द्वादशोऽध्यायः।

Swami Chinmayananda

श्रीमद्भगवद्गीता

(गीतामृतमञ्जूषा)

द्वादशोऽध्यायः

परमहंसपरिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी श्रीमद्भागवतानन्द
सरस्वती महाराज का प्रसाद

गीतामण्डली

माधवीकुञ्ज

५०, शिवकुटी, पो० केवलीलाइन्स

इलाहाबाद—४

प्रकाशक :

प्रोफेसर निशीथ कुमार तरफदार, बी० ई०

बिहार कॉलेज ऑफ इंजिनियरिंग

पटना—५ (बिहार)

मुद्रक :

नरेन्द्रकुमार प्राणलाल आचार्य

आचार्य मुद्रणालय

कर्णघण्टा, वाराणसी—१

प्राप्तिस्थान

१—अध्यक्ष, गीतामण्डली,
५० शिवकुटी, इलाहाबाद—४

२—श्री शिवशंकर स्वामी
२३ पुराना किला, लखनऊ

३—श्रीमती छवि बोस
३ ए/११ आजाद नगर, कानपुर

४—श्रीमती रमा मित्रा
११२/२४८ स्वरूपनगर, कानपुर

५—श्रीमती उमादानी
द्वारा श्री डी. आर. दानी, लक्ष्मी निवास, सिविल लाइन्स, मुरादाबाद

६—प्रो० निशीथ कुमार तरफदार बी० ई०
बिहार इंजिनियरिंग कालेज,
पटना ५ (बिहार)

७—डॉ० मदन मोहन,
रमा आई हॉस्पिटल,
१० कान्वेंट रोड, देहरादून

८—श्री हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव, एडवोकेट,
प्रभु टाऊन, रायबरेली

९—श्रीमती माधवी कर,
द्वारा डॉ. एच.एम. कर
सिविल सर्जन, मिर्जापुर

१०—श्री एस. सी. मित्र, १४ बी०,
तिलक ब्रिज, आफिसर्स रेलवे कॉलोनी नगर, न्यू दिल्ली—१

११—श्री रामकुमार रस्तौगी
धामपुर (बिजनौर)

विज्ञप्ति

भगवान् की असीम कृपा से परमहंस परिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी श्रीभागवतानन्द सरस्वती महाराज द्वारा प्रणीत "गीतामृतमञ्जूषा" का द्वादश अध्याय (भक्तियोग) प्रकाशित हो रहा है। यह अध्याय बहुत ही रहस्यपूर्ण है। इसलिए स्वामीजी ने इसकी विस्तारपूर्वक व्याख्या की है जिससे जिज्ञासु पाठक इस अध्याय के रहस्य से अनायास विदित हो सकेंगे।

जिन दानवीर महापुरुषों की सहायता से पिछले कई अध्यायों का प्रकाशन सम्भव हुआ है, यह अध्याय भी उनकी निःस्वार्थ सहायता से ही प्रकाशित हो रहा है, इसलिए गीतामण्डली उनके प्रति बारंबार कृतज्ञता प्रकाश कर रही है।

इति

मकरसंक्रान्ति
१५-१-७२

श्रीनिशीथ कुमार तरफदार बी. ई.
सचिव, गीतामण्डली
इलाहाबाद।

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

श्रीमद्भगवद्गीता

द्वादशोऽध्यायः

"भक्तियोगः"

[दूसरे अध्याय से लेकर दसवें अध्याय तक (विभूतियोग तक) सर्वविशेषणों से शून्य अक्षरब्रह्म परमात्मा का (निर्गुण निराकार ब्रह्म का) वर्णन किया गया है तथा उन्हीं अध्यायों में स्थान-स्थान पर सम्पूर्ण योगैश्वर्य तथा समस्त ज्ञानशक्ति से युक्त शुद्ध-सत्त्वगुण उपाधिवाले परमेश्वर की उपासना भी वर्णित की गयी है अर्थात् सोपाधिक ब्रह्म को ध्येय रूप से प्रतिपादित किया गया है। 'विश्वरूप' अध्याय में अर्थात् एकादश अध्याय में सम्पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त सबके आदि तथा समस्त जगत के आत्मारूप भगवान् का विश्वरूप अर्जुन को दिखलाया जिससे अर्जुन उसका अवलम्बन कर उपासना कर सके। इस प्रकार विश्वरूप दर्शन कराकर भगवान् ने अन्त में मत्कर्मकृत् इत्यादि से यही कहा है कि जो विश्वरूप उपासना करते हुए मेरे लिए ही कर्म करते हैं एवं मुझको ही जीवन की एकमात्र प्राप्य वस्तु निर्णय कर मेरे भक्त बन जाते हैं एवं सर्वत्र मेरा दर्शन कर सब विषयों से संगरहित तथा सर्वभूतों में वैरभावशून्य होते हैं, वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं।

इस प्रकार एकादश अध्याय के अन्त में भगवान् के वचन से यही प्रतिपादित हुआ है कि भक्ति ही भगवान् की प्राप्ति का श्रेष्ठ उपाय है। नवम अध्याय के ३१ वें श्लोक में तथा अन्य अध्यायों में स्थान-स्थान पर भी भगवान् ने भक्ति का ही श्रेष्ठत्व प्रतिपादित किया है। "तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते" (७।१७), "सर्वं ज्ञानप्लवेनैव", "न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते" (४।३८) इत्यादि द्वारा ज्ञाननिष्ठा जो श्रेष्ठ है उसे कहा है। साधारणतः भक्त भगवान् के सगुण भाव की उपासना करता है और ज्ञानी सर्वोपाधिरहित (निर्गुण) शुद्धचैतन्यस्वरूप भगवान् को आत्मभाव से (अपनी आत्मा के रूप से) धारणा करके समाधि द्वारा अपरोक्ष साक्षात्कार करने की चेष्टा करते हैं किन्तु गीता में ज्ञानी को भी भक्त कहा है (गीता ७।१७)। इस अवस्था में एकादश अध्याय के शेष भाग में भगवान् ने 'मत्कर्मकृत्' 'मद्भक्त' इत्यादि कहकर जो 'मत्' शब्द का प्रयोग किया है वह सर्वोपाधिरहित निर्गुण निराकार शुद्धचैतन्यस्वरूप को लक्ष्य कर कहा है, न कि सोपाधिक परमेश्वर के विश्वरूप का निर्देश किया है। अधिकारी के भेद के अनुसार ही उपासना का भेद भी अवश्यंभावी है एवं इसलिए ही भगवान् ने किसी-किसी स्थान में सोपाधिक ब्रह्म की उपासना तथा स्थान-स्थान पर निर्गुण निरुपाधिक ब्रह्म की उपासना का निर्देश किया है। इन दोनों प्रकार की उपासनाओं में अर्जुन किसका अधिकारी है उसका निर्णय करने में असमर्थ होकर उन्होंने भगवान् से प्रश्न किया कि तुम्हारे उपदेशानुसार यदि तुम्हारे भक्तों में कोई सततयुक्त होकर तुम्हारी किसी साकार मूर्ति का या विश्वरूप का ध्यान करते हैं (सतत चिन्तन करते हैं) और कोई सर्व एषणा (वासना) त्यागकर (अतः सर्व-कर्म त्यागकर) सब विषयों से विरक्त होकर तुम्हारे अस्थूल, अनणु, अह्रस्व, अदीर्घ अर्थात् सर्वोपाधिरहित निर्गुण तथा अव्यक्त (सब इन्द्रियों का अविषय) निराकार स्वरूप की उपासना करते हैं, तो इन दोनों प्रकार के भक्तों में कौन योगवित्तम (श्रेष्ठ योगवित्) है अर्थात् अर्जुन (मुमुक्षुजीव के लिए सोपाधिक तथा निरुपाधिक ब्रह्म की उपासना इन दोनों पक्षों में कौन सा उपासक योगवित्तम अर्थात् सर्वश्रेष्ठ योगवित् है, इसे जानने की इच्छा से अर्जुन प्रश्न कर रहे हैं]

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

अन्वय—अर्जुनः उवाच—एवं सततयुक्ताः ये भक्ताः त्वां पर्युपासते, ये च अपि अव्यक्तम् अक्षरम् (पर्युपासते) तेषां के योगवित्तमाः ।

अनुवाद—अर्जुन ने कहा—जो भक्त सततयुक्त होकर अर्थात् निरन्तर तुममें ही युक्त रहकर साकाररूप (अथवा विश्वरूप) तुम्हारी उपासना करते हैं और जो अविनाशी अव्यक्त [सर्वोपाधिरहित इन्द्रिय आदि के अगोचर (अविषय) निराकार अविनाशी] परमब्रह्म के उपासक हैं उन दोनों में से श्रेष्ठ योगवेत्ता कौन है ?

भाष्यदीपिका—**एवम्**—इस प्रकार 'एवम्' शब्द से अर्जुन पूर्ववर्ती एकादश अध्याय के अन्तिम श्लोक में कहे हुए 'मत्कर्मकृत्' इस पद के अर्थ का निर्देश करते हैं।) **सततयुक्ताः**—निरन्तर युक्त (समाहित चित्त) होकर [सावधानतापूर्वक निरंतर भगवत् कर्मादि विषय में प्रवृत्त रहकर (मधुसूदन)] **ये भक्ताः**—जो भक्त अनन्यभाव से शरण होकर **त्वां**—पूर्वदर्शित विश्वरूपधारी तुम परमेश्वर की अर्थात् तुम्हारे सोपाधिक साकाररूप की **पर्युपासते**—परि (सर्वत्र तथा सर्वप्रकार से) उपासना (ध्यान या निरन्तर चिंतन) करते हैं **ये च अपि**—तथा दूसरे जो समस्त वासनाओं का त्याग करने वाले तथा सर्वकर्मसंन्यासी (ज्ञानीजन) **अक्षरम् अव्यक्तम् पर्युपासते**—यथा विशेषित अर्थात् 'अनिर्देश्यं सर्वत्रगमचिन्त्यं कूटस्थम्' इत्यादि विशेषणों से जिनको विशेषित किया गया है (गीता १२।३) ऐसे सर्वोपाधिरहित होने के कारण अक्षर (अविनाशी) अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियादि के अगोचर (अविषय) निर्गुण निराकार परमब्रह्म की उपासना किया करते हैं (निरंतर चिंतन करते हैं)। [अभिप्राय यह है कि संसार में जो इन्द्रियादि करणों से जानने में आने वाले पदार्थ है उसे 'व्यक्त' कहा जाता है। 'व्यञ्ज' धातु का अर्थ इन्द्रियगोचर होता है किन्तु यह अक्षरब्रह्म उससे विपरीत (अकरणगोचर)। अर्थात् इन्द्रियों द्वारा वह ग्राह्य नहीं है। अतः महापुरुषों द्वारा कहे हुए अस्थूल, अनणु, अह्रस्व, निर्गुण निराकार इत्यादि विशेषणों से युक्त है

ऐसे अक्षर अव्यक्त ब्रह्म की जो उपासना करते हैं] **तेषां** के **योगवित्तमाः**—उन दोनों में श्रेष्ठतर योगवेत्ता कौन है अर्थात् अधिकता से योग जानने वाला कौन है ? [योगं समाधिं विंदन्ति इति वा इति योगवित् अर्थात् जो लोग समाधि को जानते हैं अथवा समाधि को प्राप्त किए हैं, वे योगवित् कहे जाते हैं (मधुसूदन, आनन्दगिरि)]। सगुण तथा निर्गुण उपासक वे दोनों ही योगवित् हो सकते हैं उन दोनों में कौन सा श्रेष्ठयोगवित् (योगी) है अर्थात् मुझे किनका अनुसरण करना चाहिए यह बताने के लिए अर्जुनने प्रश्न किया।

टिप्पणी (१) श्रीधर—

निर्गुणोपासनस्यैवं सगुणोपासनस्य च।
श्रेयः कतरदित्येवं निर्णेतुं द्वादशोद्यमः॥

निर्गुण उपासना और सगुण उपासना—इन दोनों में से कौन सी उपासना श्रेष्ठ है—यह निर्णय करने के लिए बारहवें अध्याय का आरम्भ है। [पूर्ववर्ती एकादश अध्याय के अन्त में 'मत्कर्मकृत् मत्परः' (मेरे कर्म करने वाला, मेरे परायण हुआ) इस प्रकार भक्तिनिष्ठ पुरुष की श्रेष्ठता वर्णित की। "कौन्तेय प्रतिजानीहि" (गीता– ९।३१) अर्थात् 'हे कुन्ति पुत्र! तुम प्रतिज्ञा कर कहो', इत्यादि वचनों से वहाँ भी भक्ति की श्रेष्ठता का वर्णन किया। 'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते', सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि' अर्थात् उनमें नित्ययुक्त ऐकान्तिक भक्तिवाला ज्ञानी श्रेष्ठ है' तथा समस्त पापसमुदाय को ज्ञाननौकाद्वारा ही भली प्रकार पार कर जायगा इत्यादि वचनों द्वारा ज्ञाननिष्ठा की प्रशंसा की गई। इसप्रकार दोनों की श्रेष्ठता होने पर भी कौन अधिक है ?—यह विशेषरूप से जानने की इच्छा से भगवान् से] अर्जुन ने पूछा **एवं सततयुक्ताः ये इत्यादि**—इसप्रकार (पूर्ववर्ती अध्याय के अन्त में जो उपदेश तुमने दिया उस प्रकार) सम्पूर्ण कर्म तुमको समर्पण करने आदि के द्वारा सतत (निरंतर) तुम्हारे साथ युक्त (अर्थात् तुममें ही स्थित) होकर जो भक्त सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् तुम विश्वरूप परमेश्वर की उपासना (ध्यान) करते हैं तथा **ये अक्षरम् अव्यक्तम् च अपि उपासते**—अव्यक्त, निर्विशेष (सर्वोपाधिवर्जित गुणातीत) अक्षर (अविनाशी)

ब्रह्म की उपासना करते हैं इन दोनों प्रकार के उपासकों में अतिशय योगवेत्ता (श्रेष्ठ) कौन है ?

(२) **शंकरानंद**—[नवम अध्याय के अन्त में 'मन्मना भव मद्भक्तः' इत्यादि श्लोकों से चित्तशुद्धि के लिए परमेश्वर की उपासना करनी चाहिए ऐसा भगवान्ने कहा किन्तु ईश्वर का स्वरूप जानने पर ही यथार्थरूप से उनकी उपासना की जा सकती है। इसलिए मन्दबुद्धिवाले मनुष्यों की उपासना के लिए विष्णु आदि विभूति विशेषों का (दशम अध्याय में) उपदेश करके उसमें 'एकांशेन स्थितं जगत्'—मेरे एक अंश से जगत् स्थित है इत्यादि से विश्वात्मक ईश्वररूप की उपासना मुख्य अधिकारी को करनी चाहिए ऐसा सूचित करके, जो रूप मुमुक्षु के लिए उपासनीय है उसको देखने के लिए जब अर्जुन ने प्रार्थना की, तब भगवान् अपना विश्वरूप दिखलाकर 'मुझसे कही हुई साधन-सम्पत्ति के द्वारा मेरे इस रूप की जो उपासना करता है वह ज्ञान से कैवल्यरूप परम पुरुषार्थ को (मोक्ष को) प्राप्त होता है',—इसप्रकार अपनी उपासना का महाफल कहकर अब सगुण तथा निर्गुण ब्रह्म के उपासकों के 'तारतम्य–विशेष का' (विशेष भेद का) अर्थात् सगुण उपासकों के लिए अपनी उपासना के अन्य साधनों का तथा निर्गुण ब्रह्मविद् को जो ज्ञान उत्पन्न हुआ उसकी रक्षा के लिए साधन विशेष का निरूपण करने के लिए बारहवें अध्याय का आरम्भ किया गया। सर्व प्रथम 'न जायते म्रियते वा' (न जन्मता है, न मरता है) इत्यादि से परमब्रह्म ही ज्ञेय है ऐसा कहकर हे अर्जुन! 'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन', 'तद्बुद्धयः', 'महात्मानस्तु मां पार्थ', 'भक्ताः यान्ति मामपि' (हे अर्जुन! 'त्रैगुण्य से रहित होओ', 'उसमें बुद्धिवाले', 'हे पार्थ! जो महात्मा मेरे भक्त हैं वे मुझको प्राप्त होते हैं) इत्यर्थक वाक्य से परमब्रह्म की उपासना तथा उसके फल का प्रतिपादन किया। सातवें, आठवें, नौवें, दसवें और ग्यारहवें अध्याय में सगुण ब्रह्म की भी स्वरूप उपासना और उसके फल का प्रतिपादन किया। उन भगवान् के दो रूपों को सुनकर इन दोनों पक्षों का भेद जानने पर ही मुमुक्षु अपने अधिकार के अनुसार अनायास उपासना में प्रवृत्त हो सकें, इस बुद्धि से सगुण और निर्गुण ब्रह्म के उपासकों के तारतम्य को जानने की इच्छा से भगवान् से पूछने के लिए अर्जुन ने कहा—]

एवं सततयुक्ताः—इसप्रकार अर्थात् ११ वें अध्याय के अन्त में त्वत्कर्म-

कृत्त्व, त्वत्परमत्व, त्वद्भक्तत्व, असङ्गत्व तथा निर्वैरत्वरूप साधनों से सततयुक्त होकर **ये भक्ताः त्वां पर्युपासते**—जो तुम्हारे सगुणस्वरूप में निष्ठा रखते हैं, ऐसे भक्त तुम्हारा (विश्वरूप, सर्वज्ञ तथा सर्वकारण परमेश्वरस्वरूप तुम्हारा) सबप्रकार से भजन करते हैं फिर **अव्यक्तम् अक्षरम् अपि त्वां ये च पर्युपासते**—शब्दादि जिसमें नहीं पहुँच सकने के कारण जो (दृश्यरूप से) प्रकट नहीं होता है अर्थात् जो सर्व इन्द्रियों का अविषय है, जिसके सम्बन्ध में श्रुति "स्थूल नहीं, अणु नहीं, ह्रस्व नहीं" इत्यादि कहकर परिचय देती है, वह अव्यक्त है तथा अक्षर (अविनाशी) है (क्योंकि वह अपने में अध्यस्त महत् से लेकर स्थूलपर्यन्त सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त कर स्थित है) उसका अर्थात् तुम्हारा अव्यक्त अक्षर (निर्विशेष, निरुपाधिक) परमब्रह्मरूप का जो ब्रह्मविद् शम, दम आदि तथा अद्वेष्टृत्व आदि छ साधनों से सम्पन्न होकर निरंतर अनुसंधान करते हैं **तेषां योगवित्तमाः**—उनके मध्य में कौन से विशिष्ट (श्रेष्ठ) योगी (योगवित्) हैं (योग को अर्थात् समाधि को जो प्राप्त होते हैं वे योगवित् हैं) ! कहने का अभिप्राय यह है कि सगुण और निर्गुण दोनों उपासनाएँ ही मुमुक्षुओं के लिए मोक्ष का साधन हैं, इसप्रकार तुमने उपदेश किया। उनमें सुकर (सहज साध्य) साधन कौन है अर्थात् साक्षात् मोक्ष का हेतु कौन है ?—उसे कहो।

(३) **नारायणी टीका**—गीता में दूसरे अध्याय से दसवें अध्याय तक कर्मयोग, ज्ञानयोग, तथा भक्तियोग का विशेषरूप से वर्णन किया गया है। अधिकारी भेद के आधार पर ही इन विभिन्न तीन प्रकार के साधनों की आवश्यकता होती है। जो जिस योग (कर्म, भक्ति या ज्ञानयोग) का अधिकारी है उसके लिए वही (वह यदि अपने अधिकार में निष्ठा रखे तो सुखपूर्वक जो अपना चरम गन्तव्य स्थान मोक्ष-रूप परब्रह्म है) उसमें पहुँच सकता है। अपना अधिकार निर्णय नहीं कर जो अन्य उपायों को श्रेष्ठ मानकर उसके लिए प्रयत्न करता है उसका साधन अवश्य ही दुःखकर होता है एवं लक्ष्य वस्तु में पहुँचने के लिए सहायक न होकर प्रतिबन्धक बन जाता है। अर्जुनने पूर्ववर्ती अध्यायों में भगवान् के मुख से कभी तो भक्ति की श्रेष्ठता सुनी और कभी ज्ञान की। कर्मयोग तो इन दोनों योगों की भित्ति या नींव है अर्थात् बिना कर्मयोगानुष्ठान के चित्तशुद्धि नहीं होती है, अतः उसके अभाव से न तो भक्तियोग में

निष्ठा हो सकती है और न तो ज्ञानयोग में ही—इसे अर्जुन ने पहले ही भगवान् के उपदेशों से समझ लिया था। अतः ज्ञान और भक्तियोगों में से अर्जुन किसका अधिकारी है, यह जानने के लिए ही अर्जुन का प्रश्न है। एकादश अध्याय में भगवान्‌ने विश्वरूप दर्शन कराकर अन्त में यही निर्णय किया कि बिना उनके प्रति अनन्यभक्ति के उनका यह सगुण (मायोपाधिक) ईश्वरस्वरूप को कोई न जान सकता है, न देख सकता है और न तो उनके अन्दर प्रवेश ही कर सकता है। इसके पश्चात् उन्होंने उस प्रकार की अनन्य भक्ति के मत्कृत्त्वादि पञ्च लक्षण बतलाया जिससे उनकी प्राप्ति हो सकती है। अर्जुन के मनमें यह भी शंका हुई कि भगवान् ने 'वह मुझको जानता है (माम् ज्ञातुम् इत्यादि) और मुझको प्राप्त होता है (माम् एति इत्यादि)' कहा है, उसमें 'मुझको' अथवा 'मैं' शब्द का क्या तात्पर्य है ? अर्थात् वह क्या मायोपाधिक सगुण ईश्वरसत्ता (विश्वरूपसत्ता) को लक्ष्य करके कहा है अथवा वेद में वर्णित अव्यक्त अक्षर सर्वोपाधिशून्य निर्गुण ब्रह्मसत्ता को लक्ष्य करके ? अतः अर्जुन के प्रश्न का यह भी आशय है कि मैं तुम्हारे किस स्वरूप की उपासना (ध्यान या निरंतर स्मरण) करूँ जिससे तुम जिस स्वरूप को 'मैं' कह रहे हो उसको मैं प्राप्त कर सकूँ।

अर्जुन बोले—पूर्ववर्ती अध्याय के अन्त में तुमने कहा कि जो सर्वकर्म करते हुए तुमको ही एकमात्र जीवन की परमगति मानते हुए तुम्हारा ही अनन्य भक्त होकर तथा सर्वविषयों के रूप में तुम ही एकमात्र सत्य वस्तु हो, ऐसा मानता है तथा सभी नामरूपों का मिथ्यात्व निश्चय होने से विषयों के संग (आसक्ति) से रहित होकर अर्थात् सर्वभूतों में एकमात्र तुम्हारा ही दर्शन करते हुए जो राग-द्वेष तथा सर्वप्रकार के वैरभाव से शून्य हो जाता है वही तुमको प्राप्त कर लेता है। इसप्रकार तुम्हारे उपदेश का ठीक-ठीक पालन कर जो तुम्हारा अनन्यशरण तथा सततयुक्त होकर (तुम में ही निरन्तर चित्तको लगाकर) जो विश्वरूप अभी तुमने मुझे दिखलाया उसकी अथवा तुम्हारे दूसरे किसी ऐश्वर्यपूर्ण सगुणरूप की सतत उपासना (चिंतन) करे एवं दूसरी ओर यदि कोई सर्व एषणा (वासना) से मुक्त होकर सर्वकर्म त्याग कर वेद में जिसको अव्यक्त (सर्व इन्द्रियों के अविषय) निराकार सर्वोपाधिरहित अक्षर (अविनाशी) शुद्धचैतन्य स्वरूप निर्गुण ब्रह्म कहा है, उसकी परि (परितः अर्थात् सर्वत्र) उपासना

करे अर्थात् अभिन्नरूप से उनमें निरंतर स्थित रहे तो इन दोनों में कौन योगवित्तम है ? [योगम् एकात्मबोधम् विंदन्ति प्राप्नुवन्ति अर्थात् समाधि द्वारा तुम्हारे साथ एक होकर तुमको जो प्राप्त कर ले सकता है वह योगवित् है।] उक्त दोनों उपासकों में कौन श्रेष्ठ योगवित् है - अर्थात् कौन तुमको पूर्णरूप से प्राप्त कर सकता है ? यही प्रश्न का तात्पर्य है।

[श्रीभगवान ने कहा—जो कामनाओं से रहित सम्यग्दर्शी (पूर्णज्ञानी) अव्यक्त अक्षरब्रह्म के उपासक हैं उनकी बात अभी रहने दो। उनके प्रति जो कुछ कहना है उसे बाद में कहूँगा। परन्तु जो सगुण (सोपाधिक) परमब्रह्म के उपासक हैं उनके सम्बन्ध में जो कुछ मैं कह रहा हूँ उसको सुनो। (अर्जुन को सगुण उपासना का अधिकारी समझकर सगुण (सोपाधिक) ब्रह्म की उपासना में अर्जुन को प्रवृत्त करने के लिए श्रीभगवान् अब सगुण उपासना के श्रेष्ठत्व का प्रतिपादन कर रहे हैं)—]

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ २॥

अन्वयः—श्रीभगवानुवाच—ये मयि मनः आवेश्य नित्ययुक्ताः (सन्तः) परया श्रद्धया उपेताः माम् उपासते ते युक्ततमाः (इति) मे मताः।

अनुवाद—श्रीभगवान् ने कहा—जो लोग सर्वदा मुझमें चित्त को आविष्ट कर (लगाकर) निरंतर युक्त हुए (प्रयत्न करते हुए) परम (अत्यन्त) श्रद्धा से सम्पन्न होकर मेरी (मेरे सगुण स्वरूप की) उपासना करते हैं उन्हें मैं सबसे श्रेष्ठ योगवेत्ता मानता हूँ।

भाष्यदीपिका—श्रीभगवानुवाच—श्रीभगवान् ने कहा—[सगुण तथा निर्गुण ब्रह्म के उपासकों में कौन सा उपासक श्रेष्ठ योगवित् है पूर्ववर्ती श्लोक में यही अर्जुन का प्रश्न था। अब शंका होगी—क्या तुम दोनों उपासनाओं में कौन सी उपासना सुकर अर्थात् अनायास साध्य है, यह जानना चाहते हो अथवा दोनों में कौन सी साक्षात् मुक्ति का हेतु है, उसे जानने की इच्छा करते हो ? इस प्रकार आशंका कर

भगवान् ने जब देखा कि अर्जुन अभी तक तत्त्वज्ञानी नहीं है, तब उनके लिए जो सुकर (सहजसाध्य) योग है उस सगुणब्रह्म की उपासनारूप योग को पहले बतलाकर उसके बाद निर्गुण अव्यक्त अक्षरब्रह्म की उपासना (जिसमें ज्ञानी भक्त का ही अधिकार है उस) के विषय में बतलायेंगे। यह ही 'श्रीभगवानुवाच' पद का तात्पर्य है।] **ये**—जो लोग अव्यक्त अक्षर परमब्रह्म की उपासना के अधिकारी नहीं हैं किन्तु जो **मयि मनः आवेश्य**—मुझ भगवान् वासुदेव परमेश्वर में (सगुण विश्वरूप में) मन को समाहित करके (अनन्यशरण होकर) अत्यन्त प्रेम के साथ मन को मुझमें प्रविष्ट कर अर्थात् मेरे सगुणरूप में तन्मय होकर) **नित्ययुक्ताः सन्तः**—एकादश अध्याय के अन्तिम श्लोक के अनुसार (मेरे लिए ही सब कर्म करते हुए मुझको ही परमगतिरूप से निश्चय कर) मेरा अनन्यभक्त होकर सर्व विषयों की आसक्ति से वर्जित होकर तथा सर्वभूतों में वैरभाव से शून्य होकर निरंतर तत्पर हुए **माम्**—मुझको अर्थात् योगेश्वरों के भी अधीश्वर, सर्वज्ञ, राग-द्वेषादि पञ्चक्लेश से शून्य तिमिर (अज्ञान) दृष्टि से रहित मुझ परमेश्वर को **परमश्रद्धया उपेताः**—परम अर्थात् प्रकृष्ट (सात्त्विकी) श्रद्धा से युक्त होकर **उपासते**—उपासना करते हैं (सर्वदा मेरा चिंतन करते हैं) **ते युक्ततमाः इति मे मताः**—वे श्रेष्ठतम योगी हैं इसे मैं मानता हूँ [क्योंकि सर्वदा मुझमें ही आसक्त-चित्त रहने के कारण तथा अन्य विषयों से विमुख होने के कारण वे लगातार मुझमें ही चित्त को स्थिर रखकर रात-दिन व्यतीत करते हैं, अतः उनको युक्ततम कहना उचित ही है। अर्जुन सोपाधिक सगुण ब्रह्म की उपासना का अधिकारी है अतः भगवान् ने भी सगुण ब्रह्म में जिससे अर्जुन की निष्ठा (स्थिति) रहे, इस उद्देश्य से परमेश्वर के सोपाधिक रूप की प्रशंसा की। अतः इधर 'योगवित्तम' शब्द अर्थवाद रूप से (प्रशंसा वाद के रूप से) कहा गया है।

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—[उनमें प्रथम उपासना (सगुण ब्रह्म की उपासना) श्रेष्ठ है इस प्रकार उत्तर देते हुए—] श्रीभगवान् बोले—**मयि**—सर्वज्ञता आदि गुणों से सम्पन्न मुझ परमेश्वर में **मनो आवेश्य**—मन को लगाकर अर्थात् एकाग्र कर **ये नित्ययुक्ताः उपासते**—जो भक्त श्रेष्ठ नित्ययुक्त होकर (सर्वदा मेरे लिए कर्म का अनुष्ठान आदि करते रहने से मुझमें स्थित होकर **परया श्रद्धया उपेताः**—श्रेष्ठ

श्रद्धा से सम्पन्न होकर **उपासते**—(मेरी) आराधना करते हैं **ते युक्ततमाः मताः**—ये मेरे मत में युक्ततम हैं अर्थात् उनको मैं श्रेष्ठ योगी मानता हूँ।

(२) **शंकरानन्द**—[प्रथम साधन अर्थात् सगुण ब्रह्म की उपासना आरुरुक्षु के लिए उत्तम तथा सुकर (अनायाससाध्य) है और दूसरा साधन अर्थात् निर्गुण ब्रह्म की उपासना योगारूढ़ के लिए है, ऐसा भगवान् सूचित कर रहे हैं अतः आरुरुक्षु अर्जुन ने जब पूछा उनके लिए कौन सा साधन श्रेष्ठ है? तब श्रीभगवान् अर्जुन के लिए पहले साधन का ही प्रवचनपूर्वक उपदेश करने के लिए अर्थात् पहले साधन में प्रवृत्त करने के लिए बोले—]

मयि मनः आवेश्य—मोक्षस्वरूप मुझमें मन को आ (समन्तात्) अर्थात् चारों ओर से भलीभाँति लगाकर अथवा केवल मोक्ष की ही इच्छा करते हुए मुझमें (मेरे स्वरूप में) जो कुछ देखा गया, छुआ गया, सुना गया और विचारा गया यह सब ब्रह्म ही हैं इस प्रकार सबको ब्रह्मस्वरूप से ग्रहण करने में ही मन को ठीक-ठीक लगाकर अथवा मुझमें (मेरे ध्यान में ही न कि विषयचिंतन में) मन को लगाकर **नित्ययुक्ताः**—मत्कर्मकृत्त्वादि धर्म में नित्य सर्वदा युक्त (नियत) अर्थात् निष्ठावान् होकर **परया श्रद्धया उपेताः**—परम (निश्चल अर्थात् अविचलित) श्रद्धा से अर्थात् मत्कर्मकृत्त्व आदि (गीता ११।५५) साधनों से परमेश्वर की उपासना करने से चित्त की शुद्धि होती है, तदनंतर ज्ञान होता है और उससे मोक्ष होता है या कि नहीं होता है इत्यादि संशय से रहित आस्तिक्य-बुद्धि से युक्त होकर स्वधर्म, स्वाश्रम, स्वजन और स्वस्वरूप का त्याग किए बिना ही अतिभक्ति से **ये माम् उपासते**—जो मेरी विश्वरूप, सर्वज्ञ, सर्वात्मक परमेश्वर की उपासना करते हैं अर्थात् सदा सर्वत्र सब में मेरी ही भावना करते हैं **ते युक्ततमाः मताः**—वे ही युक्ततम (श्रेष्ठ योगी) हैं ऐसा मेरा मत है अर्थात् मैंने ऐसा ही निश्चय किया है। कहने का अभिप्राय यह है कि घर में ही रहते हुए केवल मोक्ष की ही कामना से मत्कर्मकृत्त्वादि मोक्षसाधनों में निष्ठावान् होकर जो सदा सबमें मेरी ही भावना करते हुए काल का अतिक्रमण करते हैं वही युक्ततम हैं अर्थात् श्रेष्ठ योगी हैं। इससे यह सूचित होता है कि अपने अधिकार के अनुरूप सगुण ब्रह्म की उपासना ही आरुरुक्षु मुमुक्षु के लिए सुकर साधन है अर्थात् स्वार्थ (परमार्थ) सिद्धि करनेवाला साधन है।

(३) **नारायणी टीका**—भगवान् अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि जो मुझमें अर्थात् सगुण विश्वरूप परमेश्वर में अनन्य शरण होकर तथा परमश्रद्धा से युक्त होकर मुझमें मन को निविष्ट कर (अतः नित्य सर्वेश्वर सर्वज्ञ एवं सर्व कल्याण के आश्रयरूप मेरे साकार भाव में सतत युक्त रहकर अर्थात् अन्य विषयों से विमुख होकर सर्वत्र, सदा एवं सर्ववस्तु में मेरे साथ ही युक्त होकर) उपासना करता है, वही युक्ततम अर्थात् सर्वश्रेष्ठ योगी है। 'युक्ततम' कौन है यह भगवान् ने पहले भी छठें अध्याय के ४७ वें श्लोक में कहा है। वहाँ भी श्रद्धायुक्त होकर जो योगी भली प्रकार समाहित हुए अन्तःकरण से भगवान् को भजता है वह अतिशय श्रेष्ठ योगी है, ऐसा बताया। सर्वज्ञ भगवान् ने अर्जुन का सगुण ब्रह्म की उपासना में ही अधिकार है यह देखकर साकार ब्रह्मविद्या में प्रवृत्त करने के लिए इस प्रकार भक्तियोग की श्रेष्ठता की स्तुति रूप से **'ते मे युक्ततमाः मताः'** यह कहा है अर्थात् इस प्रकार कहना अर्थवाद (स्तुतिपरक) है, ऐसा समझना चाहिए। सगुण ब्रह्म (भगवान् के सगुण विश्वरूप आदि) माया से युक्त होने के कारण उसे भगवान् का यथार्थ नित्यशुद्ध स्वरूप कहा नहीं जाता है तथापि जबतक वेदान्त वाक्यादि श्रवण, मनन और निदिध्यासन से माया से उत्पन्न हुए नाम-रूपात्मक विश्वप्रपञ्च का मिथ्यात्व तथा ब्रह्मस्वरूप आत्मा का सत्यत्व तथा नित्यत्व का निश्चय नहीं हो जाता तबतक चित्त की स्थिरता का सम्पादन कर माया के आवरण को हटाने के लिए भगवान् के किसी भी साकार अर्थात् सगुण (मायोपाधिक) रूप का आश्रय लेना ही पड़ता है। भक्त अपने देहादि को 'मैं' मानकर शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा को ही सर्वस्वरूप, सर्वेश्वर एवं सर्वशक्तिमान सगुण भगवान् के रूप से उपासना करते हैं। अतः भक्त प्रकृति होकर पुरुष स्वरूप भगवान् का निरंतर चिंतन करते हुए जब मन को एकाग्र कर शुद्धचैतन्यस्वरूप में डूब जाते हैं अर्थात् उसमें ही नित्य स्थिति लाभ करते हैं तब तत्त्वज्ञानलाभ कर भक्त भी भगवान् (ब्रह्म) की स्वरूपता को ही प्राप्त होते हैं। अतः अनन्यभक्ति से चित्तशुद्धि, तत्त्वज्ञान एवं ब्राह्मीस्थिति इस जन्म में ही क्रमशः प्राप्त हो सकती है अथवा यदि इस जन्म में वह सम्भव नहीं हो तब इस प्रकार सगुणभक्त ब्रह्मलोक में जाकर नाना प्रकार के ऐश्वर्य भोग करने के पश्चात् महा प्रलय में ब्रह्मा के साथ मुक्ति प्राप्त करते हैं। इसे क्रममुक्ति कहते हैं (गीता—अष्टम अध्याय द्रष्टव्य)। परन्तु

जो निर्गुण ब्रह्म का उपासक होता है, वह मिथ्या-प्रपञ्च को 'नेति-नेति' कहकर अपने शुद्धचैतन्य स्वरूप में ही स्थिति लाभकर ब्रह्म ही हो जाता है एवं जीवित अवस्था में वह जीवन्मुक्ति का आनन्द उपभोग कर मृत्यु के पश्चात् सद्योमुक्ति या विदेहकैवल्य प्राप्त होते हैं। इसलिए श्रुति कहती है "न तस्य प्राणा उत्क्रमन्ति अत्रैव समवलीयन्ते" अर्थात् उनके प्राण का उत्क्रमण नहीं होता है—शरीर से उठकर ब्रह्मज्योतिः प्राप्त कर अपने स्वरूप में ही स्थिति लाभ करते हैं। यद्यपि अक्षरब्रह्म की उपासना से ब्रह्मस्वरूपता प्राप्त करना ही जीवन का परम पुरुषार्थ है तथापि जबतक देह-इन्द्रियादि में आत्म-अभिमान रहता है तबतक इस प्रकार की उपासना बहुत ही क्लेशकर है। इसलिए निर्गुण ब्रह्म की उपासना अति उत्तम अधिकारी के लिए अनुकूल होनेपर भी अर्जुन के समान निम्न अधिकारी के लिए उपयुक्त नहीं है। इसलिए अनन्यशरण एवं भगवान् के चिंतन में ही निरंतर निमग्न हुए भक्त को युक्ततम अर्थात् योगवित्तम या श्रेष्ठयोगी कहकर भगवान् अर्जुन को अपने अधिकार में निष्ठा रखने के लिए प्रवृत्त कर रहे हैं। अतः यहाँ 'युक्ततम' शब्द अर्थवाद (प्रशंसा) है यह कहना युक्त अर्थात् उचित ही है।

(२) सगुण भगवान के भक्त साकार उपासक होने के कारण भगवान् को अपने से भिन्न रूप से ही भजन (चिंतन) करते हैं किन्तु निर्गुण अव्यक्त अक्षरब्रह्म के उपासक (अर्थात् ज्ञानी योगी) अपने उपास्य को अभिन्नरूप से अपनी आत्मा ही मानते हैं एवं स्वयं ब्रह्मस्वरूप होकर निरंतर उसमें ही स्थित रहते हैं। अतः जिस प्रकार भगवान् ज्ञानी की आत्मा है उसी प्रकार ज्ञानी भी भगवान् की आत्मा हो जाते हैं। इसलिए गीता में भगवान् ने स्वयं कहा है-'ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम्' (गीता ७।१८)। अतः कोई भिन्नता नहीं रहने के कारण भगवान् के ज्ञानी उपासक युक्ततम हैं। अथवा अयुक्ततम हैं, इस प्रकार प्रश्न हो नहीं सकता अर्थात् आत्मस्थिति होनेपर निर्गुण अक्षरब्रह्म से आत्मा की कोई भिन्नत्वबुद्धि नहीं रहती है। श्रुति में कहा है-'त्वं यथा यथा उपासते तदेव भवति' अर्थात् जो जिसकी उपासना करता है, वह उसी के स्वरूप को प्राप्त होता है। अतः निर्गुण अक्षर अव्यक्त शुद्धचैतन्यस्वरूप ब्रह्म या आत्मा के उपासक को उसी स्वरूपता की ही प्राप्ति होती है जिसमें किसी प्रकार भेदबुद्धि नहीं है। अतः ऐसी स्थिति में कौन किसके साथ युक्त या युक्ततम होगा ? इसलिए युक्ततमत्व

आदि शब्द तत्त्वदर्शी ज्ञानी के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकता—वह भक्त के लिए ही कहा जाता है।

(३) पहले ही कहा जा चुका है अधिकारी भेद के अनुसार ही उपासना का भेद निर्णीत होता है। गीता में द्वितीय अध्याय से दशम अध्याय तक जिन कर्मयोग, भक्तियोग तथा ज्ञानयोग के सम्बन्ध में कहा गया है उनमें कौन किस योग का अधिकारी है उसे भगवान् ने भागवत में अति संक्षिप्त रूप से इस प्रकार स्पष्ट किया है—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥
निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्॥
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥
तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥

(भागवत ११।२०।६-९)

अर्थात् प्रिय उद्धव! मैंने ही वेदों में एवं अन्यत्र भी मनुष्यों का कल्याण करने के लिए अधिकारी भेद से तीन प्रकार के योगों का उपदेश किया है। वे हैं—ज्ञान, कर्म और भक्ति। मनुष्य के परम कल्याण के लिए इनके अतिरिक्त और कोई उपाय कही नहीं है। उद्धवजी! जो लोग कर्मों तथा उनके फलों से विरक्त हो गये हैं और उनका त्यागकर चुके हैं, वे ज्ञानयोग के अधिकारी है। इसके विपरीत जिनके चित्त में कर्मों और उनके फलों से वैराग्य नहीं हुआ है, उनमें दुःखबुद्धि नहीं हुई है, वे सकाम व्यक्ति कर्मयोग के अधिकारी हैं। जो पुरुष न तो अत्यन्त विरक्त है और न अत्यन्त आसक्त ही है तथा किसी पूर्वजन्म के शुभकर्म से सौभाग्यवश मेरी लीला-कथा आदि में उसकी श्रद्धा हो गयी है, वह भक्तियोग का अधिकारी है। उसे भक्तियोग के द्वारा ही सिद्धि मिल सकती है। कर्म के सम्बन्ध में जितने भी विधि-निषेध है, उनके अनुसार तभीतक कर्म करना चाहिए, जबतक कर्ममय जगत् और उससे प्राप्त होने वाले स्वर्गादि

सुखों से वैराग्य न हो जाय अथवा जबतक मेरी लीला–कथा के श्रवण-कीर्तन आदि में श्रद्धा न हो जाय।

उपर्युक्त भगवान् के बचनों से यह सिद्ध होता है कि जबतक देहादि में अज्ञान के कारण आत्मबुद्धि रहती है, अतः कर्म तथा कर्मफल में भी थोड़ी बहुत आसक्ति रहती है अर्थात् जो साधक पूर्णरूप से वैराग्यवान् नहीं हुआ है तबतक उसका अधिकार भक्ति-मार्ग में ही है अर्थात् सगुणब्रह्म की उपासना में ही है, निर्गुणब्रह्म की उपासना में नहीं। यही बात भगवान् परवर्ती पाँचवें श्लोक में स्पष्ट करेंगे। प्रश्न होगा–जो भक्त अत्यन्त श्रद्धापूर्वक मन को भगवान् में ही आविष्ट कर (लगाकर) भगवान् के साथ ही नित्ययुक्त रहते हैं, उसकी उपासना कैसी हो सकती है ? इसप्रकार के उपासक तथा निर्गुण ब्रह्म के उपासक में क्या भेद है ?–इसपर कहा जायगा कि भक्त जब माया के ऐश्वर्य से युक्त भगवान् की उपासना करते हैं तब भक्त का मनमें यह विश्वास दृढ़ीभूत होता है कि–(१) भगवान् सर्वस्वरूप है अर्थात् सब नाम और रूप में एकमात्र भगवान् ही विद्यमान है, (२) भगवान् सर्वशक्तिमान है अर्थात् अच्छी-बुरी जितनी शक्तियाँ हैं वे सब ही भगवान् के ही स्वरूप है, (३) भगवान् सर्वेश्वर हैं अर्थात् सबकी बुद्धि को वे ही प्रेरणा देते हैं एवं सबको वही कठपुतली की भाँति नचाते हैं। जिसप्रकार स्वर्णकार सोने के अलंकार (जेवर) में केवल सोने को ही देखता है, उसकी दृष्टि में नामरूप का कोई मूल्य नहीं रहता है, उसीप्रकार भक्त भी नामरूप तथा क्रिया में दृष्टि नहीं रखकर सर्वत्र एकमात्र चैतन्यस्वरूप भगवान् को ही देखते हैं अर्थात् कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण–इन छः कारकों में केवल भगवान् की सत्ता का ही अनुभव करते हैं, ऐसी अवस्था में (क) भक्त का मन भगवान् के अपूर्व ऐश्वर्य को देखकर अत्यन्त श्रद्धा से भरपूर हो जाता है, (ख) उनका मन नामरूप को छोड़कर नामरूप सबके उपादानरूप भगवान् की सत्ता में आविष्ट होता रहता है एवं इसलिए (ग) वे खाते हुए, सोते हुए, चलते हुए भगवान् के साथ ही नित्य (निरंतर) युक्त रहते हैं अर्थात् भगवान् से उनका मन कभी पृथक् अर्थात् विचलित नहीं होता है। ऐसे होकर जो निरंतर भगवान् की उपासना (अनुस्मरण) करते हैं वे ही सबप्रकार के भक्तों में युक्ततम माने जाते हैं। अर्जुन ने प्रश्न किया योगवित्तम कौन है ? किन्तु भगवान् ने

उत्तर में 'योगवित्तम' शब्द व्यवहार न कर अनन्य भक्त को 'युक्ततम' कहा। इसका तात्पर्य यही है कि सगुण उपासक (भक्त) तथा निर्गुण उपासक (ज्ञानी) दोनों ही योगवित् हो सकते हैं अर्थात् भगवान् के साथ योग (एकात्मानुभव) प्राप्त कर सकते हैं किन्तु विशेषता यही है कि भक्त भगवान् की अपने से पृथक् रूप में उपासना करते हैं अतः **क्रम से**—योगवित् होते हैं और निर्गुण उपासक ज्ञानी भगवान् को आत्मरूप से निरंतर अनुस्मरण करते हैं अतः वे **साक्षात्**—योगवित् होते हैं। इसलिए साकार उपासक भक्त कभी अखण्डअद्वैत, शुद्धचैतन्यस्वरूप अव्यक्त अक्षर ब्रह्म के उपासक ज्ञानी से श्रेष्ठ योगवित् हो नहीं सकता। दूसरी बात यह है कि भक्त साकार भगवान की कृपा, भक्तवत्सलता इत्यादि की अपेक्षा रखते हैं किन्तु निर्गुण ब्रह्म उपासक भगवान् के किसी ऐश्वर्य या गुण की अपेक्षा नहीं रखकर ही पूर्ण वैराग्य के बल से सबकुछ परित्याग कर आत्मसंस्थ होते हैं अर्थात् आत्मा में स्थितिप्राप्त होते हैं। अतः इस कारण से भी साकार उपासक निर्गुण उपासक से (ज्ञानी से) योगवित्तम अर्थात् श्रेष्ठ योगवित् हो नहीं सकता। भगवान् ने इस कारण से अति कुशलतापूर्वक अर्जुन के अधिकार के अनुसार सगुण उपासना की निष्ठा में कोई हानि या संशय न हो इसलिए सगुण उपासकों में (नानाप्रकार के भक्तों में) से ही कौन युक्ततम है वही उन्हें कहा। निर्गुण ब्रह्म उपासक की तुलना में सगुण उपासक (भक्त) योगवित्तम है या नहीं ऐसा कुछ नहीं कहा। [बहुत से टीकाकारों ने 'योगवित्तम' एवं 'युक्ततम' शब्दों को पर्यायवाचकरूप से ग्रहण किया किन्तु शब्दों के भेद का तात्पर्य निर्णय करने पर वह ठीक नहीं प्रतीत होता है]। कहने का अभिप्राय यह है कि एक ही श्रेणी में मुक्त विभिन्न व्यक्तियों में 'तर' या 'तम' का निर्देश हो सकता है किन्तु जब श्रेणी का भेद होता है तब वह सम्भव नहीं है। पञ्चम श्रेणी के छात्रों तथा दशम श्रेणी के छात्रों में कौन श्रेष्ठ है इसप्रकार का प्रश्न जैसे व्यर्थ है, उसीप्रकार सगुण उपासक तथा निर्गुण उपासकों में कौन श्रेष्ठ है इसप्रकार का प्रश्न भी अर्थहीन है। अतः सगुण उपासकों में (भक्तों में) ही जो श्रद्धापूर्वक निरन्तर भगवान् का ही स्मरण करते हैं वे 'युक्ततम' हैं, ऐसा कहना ठीक ही हुआ।

[प्रश्न होगा कि जो लोग निर्गुण निरुपाधिक ब्रह्म की उपासना करते हैं क्या वे युक्ततम नहीं हैं?—इस पर श्रीभगवान् कहते हैं—यह बात नहीं किन्तु उनके विषय में जो कुछ कहना है वह सुनो—]

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

अन्वय—ये तु सर्वभूतहिते रताः सर्वत्र समबुद्धयः इन्द्रियग्रामं संनियम्य सर्वत्रगम् अचिन्त्यम् कूटस्थम् अचलं ध्रुवम् अनिर्देश्यम् अव्यक्तम् अक्षरम् पर्युपासते ते माम् एव प्राप्नुवन्ति ।

अनुवाद—जो लोग समस्त प्राणियों के हित में तत्पर होकर, सर्वत्र समान बुद्धि रखकर (अर्थात् सर्वत्र एकमात्र सर्वात्मा ब्रह्म ही विराजमान है इसप्रकार बुद्धि युक्त होकर), इन्द्रियों के समूह को विषयों से सम्यक् प्रकार (पूर्णतया) रोककर (प्रत्याहारकर) अनिर्देश्य (शब्दो से "यह इसप्रकार है" ऐसा निर्देश करने के अयोग्य) अव्यक्त (इन्द्रियों के अविषयीभूत), अक्षर (अविनाशी), सर्वगत, अचिन्त्य (मन के अविषयीभूत), कूटस्थ (अज्ञान और उसके कार्य के अधिष्ठानभूत), अचल (निर्विकार निष्क्रिय), ध्रुव (सनातन या नित्य) निर्गुण ब्रह्म की उपासना करते हैं वे भी मुझे ही प्राप्त कर लेते हैं ।

भाष्यदीपिका—ये तु—परन्तु जो पुरुष [पहली कोटि के उपासकों से अर्थात् सगुण ब्रह्म के उपासकों से निगुर्ण ब्रह्म के उपासकों की भिन्नता दिखाने के लिए 'तु' शब्द है अर्थात् पहली कोटि के उपासक उपासना से चित्तशुद्धि प्राप्त कर तत्पश्चात् तत्त्वज्ञान लाभ कर **क्रम से**—मोक्षरूप परमब्रह्म को प्राप्त होते है किन्तु जो लोग अव्यक्त अक्षर परब्रह्म में मन निविष्ट कर उसमें ही स्थिति लाभ करते हैं वे **साक्षात् रूप से**—मोक्षरूप परम फल को प्राप्त होते हैं। अतः दोनों उपासनाओं के फल में भेद रहने के कारण 'तु' शब्द से वही भिन्नता सूचित कर रहे हैं]

अक्षरम् अनिर्देश्यम् अव्यक्तम् पर्युपासते—जो उस अक्षर की [वह अक्षर कैसा हैं ? (उत्तर) वह अक्षर अव्यक्त है अतः शब्दों का विषय न होने से किसी

प्रकार से भी उनके सम्बन्ध में निर्देश नहीं किया जा सकता है अर्थात् उनके सम्बन्ध में कुछ भी नहीं बतलाया जा सकता है, इसलिए वह अनिर्देश्य है। किसी भी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता इसलिए वह अव्यक्त है। इस प्रकार अक्षर की जो पुरुप सर्व प्रकार से उपासना करते हैं। [उपासना किसको कहते हैं ? (उत्तर) उपास्य वस्तु को शास्त्रोक्त विधि से बुद्धि का विषय बनाकर उसके उप (समीप) आसन लगाने को अर्थात् तैलधारा के समान प्रत्ययों (वृत्तियों) के प्रवाह से दीर्घकाल तक उसमें स्थित रहने को उपासना कहते हैं।] जिस अक्षर पुरुप की उपासना कही गई है अक्षर के विशेषण अब बतलाते हैं, **सर्वत्रगम्**—वह आकाश के समान सर्वव्यापक है **अचिन्त्यं च**—और अव्यक्त होने के कारण अचिन्त्य (चिंतन के अयोग्य) है क्योंकि जो वस्तु इन्द्रियादि का विषय है उसी का मन से भी चिंतन किया जा सकता है परन्तु अक्षर ब्रह्म उससे विपरीत होने के कारण अचिन्त्य है तथा **कूटस्थम्**—कूटस्थ भी है। जो वस्तु ऊपर से गुण से युक्त प्रतीत होता है और भीतर दोषों से भरा हो उसका नाम कूट अर्थात् कपटी है। संसार में भी 'कूटस्थ' 'कूटसाक्ष्य' इत्यादि में 'कूट' शब्द प्रसिद्ध है अर्थात् 'कूट' शब्द प्रवञ्चक (कपट) अर्थ में प्रसिद्ध है। ऐसा ही जो अविद्यादि अनेक संसारों के बीजभूत अन्तर्दोष से युक्त माया है [जो अव्याकृत आदि शब्द द्वारा कही जाती है तथा 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वे. उ. ४।१०) 'मम माया दुरत्यया' इत्यादि (अर्थात् प्रकृति को तो माया और महेश्वर को मायापति समझना चाहिए, फिर मेरी माया दुस्तर है) इत्यादि श्रुति तथा स्मृति के बचनों से 'माया' नाम से प्रसिद्ध है] उसका नाम कूट है। उस कूट में अर्थात् माया एवं माया के कार्य में जो उनके अधिष्ठान रूप से स्थित है उसको कूटस्थ कहते हैं अथवा कूट शब्द का अर्थ राशि (ढेर) है राशि (ढेर) के समान जो निष्क्रिय रूप से स्थित हो उसका नाम कूटस्थ है। इस प्रकार कूटस्थ होने के कारण जो **अचलम्**—अचल है अविकारी है एवं अचल होने के कारण ही जो **ध्रुवम्**—नित्य है, उस ब्रह्म की जो लोग उपासना करते हैं [किस प्रकार गुण सम्पन्न होकर वे लोग उपासना करेंगे ? इस पर कहते हैं-] **संनियम्य इन्द्रियग्रामम्**—जो इन्द्रियों के समुदाय को सम्यक् प्रकार से (भलीभाँति) नियमन (संयम) करके अर्थात् विषयों से इन्द्रियों का उपसंहार (रोक) कर

सर्वत्र—सब समय **समबुद्धयः**—समबुद्धिवाले होते हैं अर्थात् इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति में जिनकी बुद्धि सम (एक ही प्रकार की रहती हैं **ते**—इस प्रकार अक्षर ब्रह्म के उपासक **सर्वभूतहिते रताः सन्तः**—समस्त भूतों के हितों में रत (तत्पर) होकर **माम् प्राप्नुवन्ति**—मुझे ही प्राप्त करते हैं। उन अक्षर ब्रह्म के उपासक मुझे प्राप्त होते हैं—इस विषय में तो कुछ कहना ही नहीं है क्योंकि 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' [ज्ञानी को तो मैं अपनी आत्मा ही मानता हूँ।] यह मैं पहले ही कह चूका हूँ कहने का अभिप्राय यह है कि इस प्रकार अक्षर के उपासक मेरी आत्मा हैं तथा उनकी आत्मा मैं हूँ। इस कारण से मैं और वे सदा ही अभिन्नरूप से स्थित हैं अतः 'प्रापक-प्राप्तव्य' इस प्रकार सम्बन्ध न रहने के कारण उनके विषय में 'युक्ततम' या 'अयुक्ततम' कुछ भी कहना नहीं बन सकता है।

मधुसूदन सरस्वती ने इसप्रकार दोनों श्लोकों की व्याख्या की है **ये तु अक्षरम् पर्युपासते तेऽपि मामेव प्राप्नुवन्ति**—जो मुझ अक्षर ब्रह्म की उपासना करते हैं वे भी मुझे ही प्राप्त कर लेते हैं। [तीसरे श्लोक का चौथे श्लोक के 'प्राप्नुवन्ति' क्रियापद से सम्बन्ध है।] सगुण ब्रह्म के उपासकों से निर्गुण ब्रह्म के उपासकों की भिन्नता दिखाने के लिए 'तु' शब्द है। बृहदारण्यक उपनिषद के वाचक्नवी ब्राह्मण में प्रसिद्ध निर्विशेष ब्रह्म ही यहाँ सात विशेषणों से युक्त अक्षर ब्रह्म रूप से कहा गया है। वह अक्षर ब्रह्म (१) **अनिर्देश्यम्**—जिसके सम्बन्ध में कुछ भी बतलाया नहीं जा सकता है वह अनिर्देश्य है क्योंकि (२) **अव्यक्तम्**—वह शब्द की प्रवृत्ति के निमित्त भूत जाति, गुण, क्रिया सम्बन्धों से रहित है। शब्द की प्रवृत्ति तो जाति गुण, क्रिया सम्बन्धों को द्वार बनाकर ही होती है। जाति गुणादि से अक्षर ब्रह्म क्यों रहित है ? इस पर कहते हैं (३) सर्वत्रगम्—यह सर्वव्यापी है अर्थात् सबका कारण है, अतः यह जाति आदि से रहित है क्योंकि परिच्छिन्न कार्यसमूह से ही जाति आदि का योग दिखाई पड़ता है। (आकाश आदि को भी कार्य ही माना गया है) इसी से (४) **अक्षरम् अचिन्त्यम्**—अचिन्त्य है। जिस प्रकार वह शब्द वृत्तिं का विषय नहीं है (अर्थात् अनिर्देश्य है) उसी प्रकार मनोवृत्ति का भी वह विषय नहीं है क्योंकि मनोवृत्ति भी परिच्छिन्न (सीमित) वस्तु को विषय करने वाली है। श्रुति भी अक्षर

पुरुष को मन और वाणी का अविषय कहती है यथा "यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह" अर्थात् जहाँ से मन सहित वाणी उसे न पाकर लौट आती है वही अक्षर ब्रह्म है। तब श्रुति में 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि', 'दृश्यते त्वग्रयया बुद्ध्या' अर्थात् उस उपनिषद् पुरुष को पूछता हूँ, तीव्र बुद्धि से ही उनको देखा जाता है इस प्रकार क्यों कहा है और ब्रह्मसूत्र में भी क्यों कहा है—'शास्त्रयोनित्वात्' अर्थात् उनको शास्त्र से जाना जाता है।

समाधान—शब्द से उत्पन्न होने वाली बुद्धि की चरमवृत्ति में अविद्याकल्पित सम्बन्ध से परमानन्द बोधस्वरूप शुद्धवस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ने से अविद्या और उसके कल्पित कार्यों की निवृत्ति होनी सम्भव है। अतः उपचार से ब्रह्म को शास्त्र या तीव्र बुद्धि का विषय कहा गया है। इसलिए अक्षरब्रह्म के साथ अविद्या के कल्पित सम्बन्ध का प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं—

(५) **कूटस्थम्**—जो मिथ्या वस्तु सत्यरूप से प्रतीत होती है उसे लोग 'कूट' कहते हैं, जैसे कूट कार्षापन (खोटा सिक्का) कूट साक्षित्व (झूठी गवाही) आदि शब्दों में कूट शब्द का प्रयोग होता है। अपने कार्य प्रपञ्च के सहित 'माया' नामक अज्ञान भी मिथ्या होते हुए भी साधारण पुरुषों को सत्यरूप से प्रतीत होता है, इसलिए अज्ञान एवं उसके कार्य को कूट कहा जाता है। अज्ञान के समस्त कार्य अक्षरब्रह्म में अध्यस्त होने के कारण कूट में (अज्ञान और उसके कार्यों में) आध्यासिक सम्बन्धों से अधिष्ठानरूप से अक्षरब्रह्म स्थित है, इसलिए वह कूटस्थ है, अर्थात् समस्त प्रपञ्चरूप विकार अविद्या कल्पित होने के कारण अधिष्ठानभूत साक्षी चैतन्य कूटस्थ (निर्विकार) है, ऐसा कहते हैं। जिस कारण से वे कूटस्थ हैं उसी कारण से अक्षरब्रह्म (६) **अचलम्**—चलन (विकार) से रहित है तथा अचल होने के कारण ही (७) **ध्रुवम्**—अपरिणामी (नित्य) है। जो ऐसे शुद्ध ब्रह्मस्वरूप मेरी उपासना करते हैं अर्थात् जो श्रवण के द्वारा प्रमाणगत संदेह की निवृत्ति करके और मनन से प्रमेय गत संशय को दूर करके विपरीत भावना की निवृत्ति के लिए ब्रह्मस्वरूप आत्मा का ध्यान करते हैं अर्थात् जो विजातीय वृत्ति के तिरस्कारपूर्वक तैलधारा के समान अविच्छिन्न ब्रह्माकारावृत्ति के प्रवाहरूप निदिध्यासन नामक ध्यान से उनको विषय करते हैं [किन्तु विषय में इन्द्रिय का

संग रहते हुए विजातीय वृत्ति का तिरस्कार किस प्रकार हो सकता है, इसपर कहते हैं—**संनियम्य इन्द्रियग्रामम्**–इन्द्रिय समूह को सम्यक् प्रकार से नियत करके अर्थात् अपने विषयों से निवृत्त करके [(इससे शम दम आदि सम्पत्ति का निरूपण किया गया है) किन्तु विषयभोग की वासना रहते हुए इन्द्रियों की विषय से निवृत्ति कैसे हो सकती है, इस पर कहते हैं] **सर्वत्र समबुद्धयः**—जिनकी विषय में सर्वत्र समान (तुल्य) बुद्धि है अर्थात् हर्ष विषाद तथा राग-द्वेष से रहित बुद्धि है [सम्यक् ज्ञान के द्वारा विषमता के कारणभूत अज्ञान की निवृत्ति हो जाने से तथा विषय का मिथ्यात्व निश्चय होने से उनकी किसी प्रकार की इच्छा (वासना) न रहने के कारण वे सर्वत्र समबुद्धि होते हैं। इससे वशीकर संज्ञा का निरूपण किया गया।] इस प्रकार अक्षर-ब्रह्म के उपासक **सर्वभूतहिते रताः**—सर्वत्र आत्मदृष्टि रहने ने कारण अर्थात् सर्वरूप में एकमात्र ब्रह्मस्वरूप आत्मा ही विद्यमान है इस प्रकार अनुभव होने के कारण वे हिंसा के निमित्तभूत द्वेष से रहित हो जाते हैं एवं इसलिए वे सर्वप्राणियों के हित में तत्पर होते हैं। आत्मा के लिए आत्मा का प्रेम स्वाभाविक है। अतः सर्वत्र आत्मदृष्टि होने पर सर्वभूतों में प्रेम भी स्वाभाविक ही है। इसी अवस्था को लक्ष्य करके श्रुति कहती है—'अभयं सर्वभूतेभ्यः मत्तः स्वाहा' अर्थात् मैंने समस्त प्राणियों को अभयरूप दक्षिणा दे दी है, इसप्रकार के मन्त्र द्वारा ज्ञानी संन्यास ग्रहण करे। स्मृति भी ऐसा ही कहती है 'अभयं सर्वभूतेभ्यः दत्त्वा संन्यासमाचरेत्' अर्थात् समस्त भूतों का अभय दान करके संन्यास ग्रहण करे। इस प्रकार के निर्गुण उपासक सम्पूर्ण साधनों से सम्पन्न होकर स्वयं ब्रह्मभूत हो जाते हैं एवं समस्त साधन के फल रूप से निःसन्दिग्ध साक्षात्कार के द्वारा मुझ अक्षरब्रह्म को ही प्राप्त होते है अर्थात् पहले भी मेरे ही स्वरूपभूत थे और अब वे अविद्या की निवृत्ति द्वारा मद्रूपता प्राप्त होकर (मेरे साथ एकत्व अनुभव कर) मुझमें स्थित रहते हैं। श्रुति इसलिए कहती है 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' अर्थात् ब्रह्म होकर ही ब्रह्म को प्राप्त होता है। फिर 'यो ह परंब्रह्म वेद ब्रह्मैव स भवति' (जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है) गीता में भी भगवान् ने कहा है 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' अर्थात् ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है अर्थात् मेरी स्वरूपता को ही प्राप्त होता है।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—[प्रश्न होगा तब क्या दूसरे साधन अर्थात् निर्गुणब्रह्म की उपासना श्रेष्ठ नहीं है ? इस पर 'ये तु अक्षरम् अनिर्देश्यम्' इत्यादि दो श्लोकों द्वारा कहते हैं कि जो अक्षरब्रह्म की उपासना (ध्यान) करते हैं वे भी मुझे ही पाते हैं। इसप्रकार दोनों श्लोकों का एक साथ अन्वय है। उस अक्षरब्रह्म के लक्षण क्या है ? इस पर कहते हैं-**अनिर्देश्यम्**—जिसका निर्देश (वर्णन) शब्द से नहीं किया जा सकता है वह अनिर्देश्य है क्योंकि वह **अव्यक्तम्**—रूप आदि से रहित है। अव्यक्त होने के कारण वह **सर्वत्रगम् अचिन्त्यम्**-वह सर्वव्यापी है और अचिन्त्यमन (मन की चिन्ता का अविषय) है। जिसका रूप नहीं है उसका मन चिन्तन नहीं कर सकता। **कूटस्थम्**—वह कूट अर्थात् माया के प्रपञ्च में अधिष्ठानरूप से स्थित है अतः **अचलम्**—वह वृद्धि आदि से रहित है अतएव **ध्रुवम्**—नित्य है। [अन्य सब पदों का अर्थ स्पष्ट है। अर्थात् ऐसे अक्षरब्रह्म को जो सर्वत्र समबुद्धि वाले (सब में ब्रह्ममात्रत्वदर्शनकारी होकर) इन्द्रिय समुदाय को विषयों से निवृत्त करके उपासना करते हैं, वे सब प्राणियों के हित में तत्पर रहते हुए मुझे ही प्राप्त होते हैं]।

(२) **शंकरानन्द**-मन्दबुद्धि वाले मुमुक्षु सगुण उपासना में प्रवृत्त हों इसलिए 'ते मे युक्ततमाः मताः' इसप्रकार कहकर भगवान् ने कर्मयोगियों की स्तुति की अब परमब्रह्म के यथार्थ स्वरूप का तथा साधकों की साधन सम्पत्ति का वर्णन कर निर्गुण उपासकों का युक्ततम होना और उन ब्रह्मविदों की ब्रह्म-उपासना का फल है साक्षात् मोक्ष (जो कि स्वयं ही सिद्ध होता है)-यह कहते हैं। **ये तु**—उपासकों की उपासना और उपास्य का क्रमशः साधन से, फल से, और स्वरूप से सगुण ब्रह्म की उपासकों से वैलक्षण्य (विशेषता) प्रकाश करने के लिए 'तु' शब्द है। **इन्द्रियग्रामम् संनियम्य**—इन्द्रिय समूहों का संनियम अर्थात् विषयों से सम्यक् प्रकार निरोध करके (विषयों को ग्रहण करने के लिए इन्द्रियों के चलने पर मन भी चलता है इसलिए समाधि टूट जाती है, अतः इन्द्रियों को विषय ग्रहण से विमुख करना आवश्यक है। **सर्वभूतहिते रताः**—मच्छर, चींटी आदि सब भूतों के हित में निरत अर्थात् जो उपद्रव करते हैं उन पर भी कृपा करनी चाहिए, क्रूरता त्याग करना चाहिए। इस न्याय से जो किसी का अहित न करने में रत है परन्तु हित करने में तत्पर है वे 'सर्वभूतहिते रताः' अथवा सबके

(ब्रह्मा से स्तम्ब तक भूतों के अर्थात् प्राणियों के हित में रत रहते हैं) [आत्मा सबसे परम प्रेम का आस्पद (स्थान) है। सर्वभूत में आत्मदृष्टि होने के पश्चात् स्वतः ही सर्व प्राणी अपना ही प्रियतम आत्मा के रूप से प्रतीत होते हैं। अतः अपने आत्म-भूत सर्वप्राणियों के हित में रत होना भी स्वाभाविक ही है। इसलिये 'सर्वभूतहिते रताः' पद का तात्पर्य यही है कि 'मैं ही सर्वभूत की आत्मा हूँ' इसप्रकार अनुभव के द्वारा सर्वत्र अपनी आत्मा को ही देखते हैं। इसलिए **सर्वत्र समबुद्धयः**—सम्पूर्ण प्रपञ्च में समबुद्धिवाले (ब्रह्मदृष्टिवाले होकर **ये तु अव्यक्तम् अनिर्देश्यम् सर्वत्रगम् कूटस्थम् अचलम् ध्रुवम् अक्षरम् पर्युपासते**—जो अव्यक्त है अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप आदि के विषय न होने से सम्पूर्ण इन्द्रियों के अविषय है तथा अनिर्देश्य है अर्थात् वाणी आदि से यह है यों जिसका निर्देश (कथन) नहीं हो सकता, एवं जो आकाश के समान सर्वव्यापी है तथा निराकार, परिपूर्ण तथा अव्यक्त होने से अचिन्त्य (मन के अविषय) भी है, अतः जो कूटस्थ है अर्थात् कूट के समान (लोहे की निहाई के समान) अकम्पेय (अविचलित) होकर जो स्थित रहता है, एवं इसीलिए जो अचल है (चलन क्रिया से रहित है) अतः ध्रुव जो (शाश्वत, नित्य) है, इसप्रकार के लक्षण वाले अक्षर परमब्रह्म की जो यति उपासना (अनुसन्धान) करते हैं अर्थात् सबको निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप से जो देखते हैं **ते मामेव प्राप्नुवन्ति**—वे ब्रह्मनिष्ठ मुझको ही (सच्चिदानन्द परमब्रह्म को ही) प्राप्त होते हैं। सगुण उपासक पूर्वोक्त भक्त अग्नि आदि अपने-अपने ईष्ट देवताओं को प्राप्त होकर क्रम से मुझको प्राप्त होते हैं परन्तु अक्षर उपासक तो उत्क्रान्ति तथा दूसरी देवता की प्राप्ति के बिना ही साक्षात् मुझ परब्रह्म को प्राप्त होते हैं। दूसरे की अपेक्षा न कर स्वयं राजा के सानिध्य को प्राप्त करते हैं उनके लिए आप्ततमत्व अर्थात् राजा प्राप्त हो गया इसप्रकार कहा जाता है परन्तु जो दूसरे की अपेक्षा कर (दूसरे की सहायता से) राजा के सानिध्य को प्राप्त होता है उसके लिए राजा के अनाप्ततमत्व अर्थात् राजा सहज में प्राप्तव्य नहीं है, ऐसा कहा जाता है। ऐसा ही जो ब्रह्मविद् साक्षात् ब्रह्मप्राप्ति करते हैं वे युक्ततम है, अतः उनके लिए 'युक्ततमत्व' शब्द का प्रयोग होता है और जो अब्रह्मवित् ब्रह्मको नहीं प्राप्त करते लिए 'अयुक्ततमत्व' शब्द का प्रयोग होता है। यहाँ

सगुण उपासकों में युक्ततमत्व औपचारिक है अर्थात् इसप्रकार उपासना की स्तुति (प्रशंसा) करने के लिए ऐसा कहा गया है। निर्गुण उपासना ही साक्षात् साधन है। यह 'मामेव प्राप्नुवन्ति' (मुझ ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है) इसप्रकार के कथन से सूचित होता है। इससे सत् और असत् का विवेक करने वाले, शुद्धात्मा तथा तीव्र मोक्ष की इच्छावाले पण्डितों को सर्वकर्म संन्यास पूर्वक श्रवणादि के अनुष्ठान से ब्रह्म को जानकर विदेह मुक्ति की सिद्धि के लिए अक्षर ब्रह्म की उपासना ही करनी चाहिए, यह सूचित होता है।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्ववर्ती श्लोक में भगवान् के अनन्य भक्त को युक्ततम कहकर उनसे विलक्षण जो अव्यक्त अक्षर निर्गुण निराकार ब्रह्म के उपासक हैं उनकी गति अब भगवान् कह रहे हैं। निर्गुण नित्य, स्थिर, अक्षर (अविनाशी) ब्रह्म कौन है? विश्वप्रपञ्च जिसको अधिष्ठान कर माया से प्रतीत हो रहा है एवं माया तथा उसके सारे कार्य नष्ट होने पर भी जो अपने स्वरूप से च्युत नहीं होकर उसमें ही सदा स्थित रहता है अर्थात् 'सर्वप्रपञ्चोपशमम् शिवम् शान्तम् अद्वैतम्' इसप्रकार श्रुति में कही हुई अखण्ड अद्वितीय परिपूर्ण सत्ता से जो सृष्टि के आदि में, मध्य में एवं अन्त में एक ही रूप में विद्यमान रहता है वही अक्षर ब्रह्म है। इसलिए विश्वप्रपञ्च के परिवर्तनके साथ-साथ भगवान् के सगुण भाव का भी परिवर्तन होता है परन्तु केवल शुद्धचैतन्य स्वरूप अक्षर ब्रह्म का कोई परिवर्तन होना सम्भव नहीं है। अक्षरब्रह्म में अर्थात् निर्गुण ब्रह्मसत्ता में प्रकृति का कार्य नहीं रहने के कारण अर्थात् वाणी का विषय जो जाति, गुण, क्रिया तथा सम्बन्ध आदि है ये सब नहीं रहने के कारण 'यह इसप्रकार है' ऐसा इनको निर्देश करने में कोई समर्थ नहीं होता है, अतः वह **अनिर्देश्य**—है। अनिर्देश्य होने के कारण यह **अव्यक्त**—है अर्थात् इन्द्रियों का विषय नहीं है। जो अतिसूक्ष्म निराकार निर्विकार इस भौतिक आकाश तथा महा शून्य को व्याप्त कर स्थित है तथा जिसमें वाणी और मन प्रवेश नहीं कर सकता है, उसको व्यक्त कौन कहेगा? स्थूल दृष्टि से इस आकाश अथवा शून्य को सर्वव्यापी कहा जाता है। उस शून्य का भी जो आधार (अधिष्ठान) अक्षर ब्रह्म है वह **सर्वत्रग**—अर्थात् सर्वव्यापी होगा, इस विषय में कहना ही क्या है? यहाँ 'सर्वत्रग' शब्द से यह सूचित किया गया है कि

अक्षरब्रह्म सर्वत्र अणु परमाणु में विद्यमान है अतः उससे अतिरिक्त जो कुछ विश्व प्रपञ्च दिखायी पड़ता है उनकी इन्द्रजाल के समान कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं है। फिर सर्वत्र होने के कारण यह अचिन्त्य भी है क्योंकि जो कुछ सीमाबद्ध है अर्थात् देश, काल तथा वस्तु से परिच्छिन्न है उनके सम्बन्ध में ही मन चिन्तन कर सकता है किन्तु अक्षरब्रह्म अनन्त (पूर्ण) होने के कारण मन तथा वाक्य उधर नहीं पहुँच सकते हैं, इसलिए निराकार निर्गुण ब्रह्म अचिन्त्य है और सदा अविकारी, नित्य, स्थिर रहने के कारण वह कूटस्थ भी है। कूट शब्द का अर्थ माया का कार्य है। नहीं होते हुए भी (पारमार्थिक सत्ता न रहने पर भी) जगत् भ्रान्तिवश (माया से) प्रतीत होता है, अतः माया के कार्य इस जगत् प्रपञ्च को कूट कहा जाता है। और इस दृश्य प्रपञ्च के (कूट के) अध्यक्ष रूप से (अधिष्ठान रूप से) शुद्ध चैतन्यस्वरूप परमात्मा विद्यमान है, इसके लिए अक्षरब्रह्म को 'कूटस्थ' कहा जाता है। कूटस्थ होने के कारण वह अचल, अविकारी तथा ध्रुव (स्थिर) कहा जाता है।

जीव जब तक देहेन्द्रियादि में आत्मबुद्धि रखता है, जब तक सद्गुरु से वेदान्त-वाक्य के श्रवणादि से जीव, जगत् तथा ईश्वर का मिथ्यात्व निश्चय एवं सर्वोपाधि रहित शुद्ध चैतन्य स्वरूप आतमा का ही सत्यत्व निश्चय न हो, तबतक अक्षर ब्रह्म की उपासना में अधिकार नहीं होता है। अपने जीवत्व का ही जब मिथ्यात्व निर्णय होता है तब उपास्य और उपासक का भेद भी रहना सम्भव नहीं है, इसलिए 'अक्षरब्रह्म की उपासना' का अर्थ है 'वही ब्रह्म हो जानना'। अतः इस प्रकार उपासक के लिए, युक्ततर अथवा युक्ततम शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता है। इसप्रकार निर्गुण उपासक के लिए श्रुति में कहा है—

> देहो देवालयः प्रोक्तः स जीवः केवलः शिवः।
> त्यजेद् अज्ञाननिर्माल्यं सोऽहंभावेन पूजयेत्॥
> अभेददर्शनं ज्ञानं ध्यानं निर्विषयं मनः।
> स्नानं मनोमलत्यागः शौचमिन्द्रियनिग्रहः॥ इत्यादि

निर्गुण उपासना का यथार्थ अधिकारी हुआ या नहीं वह साधक की तीन अवस्थाओं से निर्णीत होता है। उसे ही भगवान् चतुर्थ श्लोक में वर्णन कर रहे हैं—

(१)—**संनियम्य इन्द्रियग्रामम्**-सब इन्द्रियों को विषयों से संयत करने में जो समर्थ है वह अधिकारी है। जब तक विषय में सत्यत्व बुद्धि रहेगी तब तक अनादि संस्कारवश उसकी इन्द्रियाँ भी पुनः पुनः विषय की ओर दौड़ती रहेगी। किन्तु जब श्रुति वाक्य से तथा युक्ति तर्क एवं अनुभव से यह निश्चय रूप से सिद्ध होता है कि सब विषय माया के ही कार्य हैं एवं आत्मा ही उन विषय रूपों में भ्रान्ति वशतः प्रतीत हो रहा है, तब इन्द्रियाँ तथा चित्त विषय की ओर नहीं जायेंगे। जिस प्रकार मरीचिका का स्वरूप जान लेने पर उसमें जल दिखाई पड़ते हुए भी कोई व्यक्ति अत्यन्त तृषार्त होकर भी जल लेने के लिए कभी मरीचिका की ओर नहीं जायगा। अतः विषयों से इन्द्रियों को संयमित कर अर्थात् विषयों का मिथ्यात्व निश्चय कर उनमें पूर्णतया आसक्तिशून्य होकर सब इन्द्रियों को आत्मा में ही स्थित रखने पर ही निर्गुण ब्रह्म में एकात्मता अनुभव करने की सामर्थ्य होती है—अन्यथा नहीं।

(२) **समबुद्धयः**—अर्थात् सर्वत्र समबुद्धियुक्त होना। विषयों के मिथ्यात्व का निश्चय तथा आत्मा के सत्यत्व का निश्चय होने पर आत्मातिरिक्त दूसरी किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं रहता। अतः आत्मा से अभिन्न अक्षर ब्रह्म का उपासक स्वतः ही समबुद्धि अर्थात् समदर्शी हो जाते हैं (गीता ५।१८)

(३) **सर्वभूतहिते रताः**—इसप्रकार जिसका सर्वत्र समदर्शन होता है तथा इन्द्रिय, मन सभी आत्मा में निविष्ट होकर योगी स्वयं आत्मस्वरूप निर्गुण ब्रह्म में स्थिति प्राप्त होते हैं तब वे सर्वभूतों के केवल हित करने के लिए ही सदा रत रहते हैं। यहाँ 'सर्व' शब्द तथा 'रत' शब्द बहुत ही रहस्यपूर्ण है क्योंकि बाहर के किसी कार्य से किसी के लिए सर्व प्राणियों के हित में रत रहना असम्भव है। आत्मा ही सबको प्रियतम है इसलिए जब सर्व समभाव से आत्मदर्शन होता है तब सर्वप्राणियों में उन समदर्शी ब्रह्मनिष्ठ पुरुष का प्रेम रहना अत्यन्त स्वाभाविक है परन्तु उन आत्मरति आत्मतृप्त आत्मानन्द पुरुष के लिए दूसरे के प्रति कोई कार्य नहीं रहता है (गीता ३।१७) अतः वे सबप्राणियों का हित करने के लिए रत रहेंगे यह शास्त्र तथा अनुभव विरुद्ध बात है। किन्तु भगवान् की वाणी व्यर्थ नहीं हो सकती। अतः इस शब्द का तात्पर्य वैज्ञानिक दृष्टि से निर्णय करना पड़ेगा। अक्षर ब्रह्म के अनिर्देश्यत्वादि जो-जो विशेषण

भगवान् ने कहा है (उनसे ब्रह्म की पूर्ण परम शांत अवस्था को ही सूचित किया गया है। अर्थात् सर्व प्रकार से क्रियारहित चंचलतारहित विकाररहित, स्थिर तथा ध्रुव जो है वही अक्षरब्रह्म है ऐसा कहा है। विश्व में पृथक् पृथक् प्राणी की आकृति, स्वभाव, आहार, विहार आदि व्यापारों में रुचि भिन्न भिन्न है किन्तु ऐसा कोई नहीं है जो नित्य सुख (आनन्द) तथा नित्य आनन्द नहीं चाहता अर्थात् जगत् का प्रत्येक प्राणी परमानन्द या परम शान्ति का भिखारी है। अव्यक्त अक्षर ब्रह्म में स्थिति लाभ करना और वह ब्रह्मस्वरूप हो जाना अर्थात् परम शान्त या परमानन्दरूप हो जाना एक ही बात है। अक्षर ब्रह्म सर्वत्रग अर्थात् सर्वव्यापी है इसलिए जो ब्रह्मनिष्ठ पुरुष परमशान्त अथवा परमानन्द अवस्था प्राप्त होते हैं उनकी सत्ता भी सर्वव्यापी ही होती है परमशान्त अथवा परमानन्द अवस्था भी एक भाव है और वह भाव सर्वव्यापी है। जिसप्रकार सब शब्द उच्चारित होने के साथ-साथ विश्व के कोण-कोण में व्याप्त हो जाता है अर्थात् यदि कोई दिल्ली से उपयुक्त ट्रांसमीटर (Transmitter) से किसी शब्द का उच्चारण करे और बहुदूरस्थ साईबेरिया देश में उसको ग्रहण करने के लिइ किसी के पास उपयुक्त रिसीवर (Receiver) रहे तब दिल्ली का शब्द साईबेरिया में स्थित व्यक्ति ग्रहण कर सकेगा किन्तु कोई शब्दभाव के बिना उच्चारित नहीं होता है। अतः शब्द पहुँचने के साथ-साथ ही उसमें अन्तर्निहित भाव भी उधर स्वतः ही पहुँच जाता है उसी प्रकार जो अक्षर ब्रह्मस्वरूप आत्मा में स्थित रहते हैं, वे सर्वत्र आत्मा ही देखते हैं एवं उनके सबके प्रति प्रेम तथा सबके हित की भावना स्वतः ही रहती है अर्थात् वे परम शान्त अवस्था में स्थित होकर भी उस शान्त भाव का तथा सबके हित की भावना का स्वाभाविक रूप से अर्थात् बिना किसी प्रचेष्टा से वितरण (ट्रांसमिटर) करते हैं। पहले कहा जा चुका है कि सर्व प्राणी अर्थात् ब्रह्मा से लेकर कीट तक सभी प्राणी परमानन्द अथवा परमशान्ति को प्राप्त करने के लिए सदा ही उन्मुख है। अर्थात् प्रत्येक प्राणी नित्य शान्त भाव का स्वभावतः ही ग्राहक (रिसीवर) है तथापि सब प्राणी समभाव से ब्रह्मनिष्ठ पुरुष से संचारित उस शान्ति को क्यों नहीं प्राप्त होते हैं (उत्तर) उस संचारित शान्तभाव को उनके पास सर्वदा पहुँचने पर भी वह ठीक ठीक उसे ग्रहण नहीं कर सकता है उसका कारण यह है कि उस स्तर में (Wave length)

उसका चित्त नहीं पहुँच रहा है, तथापि ब्रह्मनिष्ठ पुरुष की तरफ से सर्वभूत के लिए हित की भावना (नित्य ब्रह्मानन्द रूप भाव) सदा ही संचारित हो रहा है। अतः इस प्रकार महात्मा को **'सर्वभूतहिते रताः'**--कहते हैं।

ते प्राप्नुवन्ति मामेव--भगवान् कह रहे हैं कि वे ज्ञानी निर्गुण ब्रह्म-उपासक मुझको (मेरी स्वरूपता को) ही प्राप्त करते हैं अर्थात् वे आनन्दघन ब्रह्म स्वरूप ही हो जाते हैं क्योंकि श्रुति कहती है 'ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति'। भक्त भगवान् की सर्वेश्वर रूप से उपासना करते हुए अपने अहंकार को भी भगवान् में समर्पित कर देते हैं और भगवान् ऐसे अनन्यशरण भक्त के हृदय में प्रकट होकर उनको सर्व संसाररूपी पाप से मुक्त कर देते हैं। (गीता १८।६६) अर्थात् भक्त का मृत्यु रूपी संसार सागर से उद्धार कर देते हैं (गीता १२।७)। इससे यही सिद्ध होता है कि भक्त अपनी आत्मा रूपी भगवान् को जानने के लिए, देखने के लिए भगवान् की कृपा की अपेक्षा रखते हैं (गीता ११।५४) क्योंकि भक्त और भगवान् का सम्बन्ध प्रकृति-पुरुष का सम्बन्ध है। जब तक पुरुष भगवान् प्रकृति को भक्त जीव को आलिंगन कर अपने अन्दर समेट न ले तब तक प्रकृति का पुरुष के लिए कार्य रहता है। किन्तु ज्ञानी पुरुष श्रवण, मनन, निदिध्यासन से जगत्, जीव तथा ईश्वर का मिथ्यात्व निश्चय कर अपने आत्मस्वरूप में स्थितिलाभ करते हैं। वे अपने अतिरिक्त और किसी की कृपा की अपेक्षा नहीं रखते हैं। वे अपनी स्वरूप स्थिति से ही निर्गुण, निष्क्रिय, अखण्ड, अद्वैत, अक्षर (अविनाशी) ब्रह्मसत्ता को प्राप्त कर लेते हैं। यह ही 'प्राप्नुवन्ति' (पा लेते हैं) पद का तात्पर्य है। इसलिए इस अवस्था में उपास्य-उपासक में कोई भेद नहीं रहने के कारण युक्त, युक्ततर या युक्ततम शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता है।

[यद्यपि विश्वरूप उपासकों को (सोपाधिक ब्रह्म उपासकों को) चित्त को विषयों से संयत कर (हटाकर) सगुणब्रह्म में लगाते हुए सर्वभूत में वैरभाव त्यागकर अनन्य-भक्ति से निरन्तर भगवान् के लिए कर्म परायण रहना क्लेशकर होता है अर्थात् उसमें बहुत कठिनाई होती है तथापि जबतक देहाभिमान का पूर्णतया परित्याग नहीं होता है तबतक सगुण ब्रह्म की उपासना से पूर्ववर्ती दो श्लोकों में उक्त अक्षरब्रह्म की उपासना

अधिकतर क्लेशदायक होती है। अतः देहात्मबुद्धि पुरुषों के लिए निर्गुण उपासना की अपेक्षा सगुण ब्रह्म की उपासना की श्रेष्ठता दिखाते हुए भगवान् कहते हैं—]

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

अन्वय—अव्यक्तासक्तचेतसां क्लेशः अधिकतरः (भवति) हि अव्यक्ता गतिः देहवद्भिः दुःखम् अवाप्यते ।

अनुवाद—उन अव्यक्त (निर्गुण निराकार) ब्रह्म में आसक्तचित्त उपासकों को अधिकतर क्लेश होता है अर्थात् उनको अधिक कठिनाई का सामना करना पड़ता है क्योंकि देहाभिमानी जीवों को अव्यक्त–गति अर्थात् निर्विशेष (सर्वव्यापी) परम-ब्रह्म की प्राप्ति बड़ी कठिनाई से मिलती है।

भाष्यदीपिका—**अव्यक्त–आसक्त–चेतसाम्**—यद्यपि विश्वरूप मेरे उपासकों को मेरे ही लिए कर्मादि करने में बहुत क्लेश होता है परन्तु जिनका चित्त अव्यक्त अक्षर में आसक्त है उन निर्गुण ब्रह्म चिंतन में लगे हुए पूर्वोक्त उपासकों को देहाभिमान का परित्याग करना पड़ता है इसलिए **क्लेशः अधिकतरः**—उन्हें और भी क्लेश उठाना पड़ता है **हि**—क्योंकि **अव्यक्ता गतिः**—जो अक्षर, अव्यक्त गति (परमब्रह्म की प्राप्ति) है वह **देहवद्भिः दुःखम् अवाप्यते**—देहाभिमानयुक्त पुरुषों को बड़े कष्टों से प्राप्त होती है, अतः उनको अधिकतर क्लेश होता है। [उन अक्षर उपासकों का जैसा आचार-विचार-व्यवहार होता है वह आगे ("अद्वेष्टा" इत्यादि श्लोकों से) कहेंगे। [सम्पूर्ण कर्म का संन्यास करके गुरु के समीप जाकर वेदान्त-वाक्यों के विचार से भ्रमों की निवृत्ति करने में जो महान् क्लेश होता है वह तो प्रत्यक्ष सिद्ध ही है। इसलिए यह कहा गया है कि जो अव्यक्त अक्षर इत्यादि लक्षणयुक्त निर्गुण परमब्रह्म की उपासना करते हैं उन्हें अधिक क्लेश होता है यद्यपि सगुण तथा निर्गुण ब्रह्म की उपासना का फल तो एक ही है अर्थात् दोनों से ही मोक्षरूप ब्रह्मपद प्राप्त होता है, तथापि देहाभिमान (देह में आत्मबुद्धि) रहते हुए जो मोक्ष को दुष्कर उपाय द्वारा अर्थात् अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म की उपासना के द्वारा प्राप्त करने के प्रयत्न करते हैं उनकी

अपेक्षा सुगम उपाय से (अर्थात् सगुण ईश्वर की उपासना से) जो मुक्ति की प्राप्ति करने में प्रयत्न करते हैं वे श्रेष्ठ हैं—यही कहने का अभिप्राय है (मधुसूदन)]।

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—[यदि अव्यक्त अक्षरब्रह्म के उपासक भी तुमको ही प्राप्त होते हैं तो फिर दूसरों का (सगुण परमेश्वर के उपासकों का युक्ततमत्व कैसे सिद्ध होता है, इसके उत्तर में तीन श्लोकों द्वारा यह वर्णन करते हैं कि क्लेश-अक्लेश निमित्तक विशेषता ही इसका कारण है–] **तेषाम् अव्यक्त-आसक्त-चेतसाम्**—अव्यक्तरूप (विशेषता से रहित) अर्थात् निर्विशेष अक्षर में (नित्यसत्य परब्रह्म में) जिनका चित्त आसक्त है। **क्लेशः अधिकतरः**—उनको साधन में अधिकतर क्लेश का सामना करना पड़ता है। **हि**—क्योंकि **अव्यक्ता गतिः देहवद्भिः दुःखम् अवाप्यते**—अव्यक्त विषयक गति (निष्ठा) अर्थात् निर्विशेष परब्रह्म में निरंतर स्थिति प्राप्त करने के लिए देहाभिमानी पुरुषों को दुःख उठाना पड़ता है। भाव यह है कि देहाभिमानियों के लिए नित्य प्रत्यक् चेतन अन्तरात्मा की परायणता अर्थात् उनमें निरंतर स्थिति की प्राप्ति कठिन है।

(२) **शंकरानन्द**—[अपक्व चित्त वाले पुरुषों को अक्षर की उपासना में अत्यन्त क्लेश होता है, यह सूचित कर रहे हैं–] **तेषाम् अव्यक्त-आसक्त-चेतसाम् क्लेशः अधिकतरः**—यद्यपि व्यक्त स्वरूप मुझ ईश्वर की (विश्वरूप मेरी) उपासना करने वाले मनुष्य को भी मत्कर्मकृत्व आदि धर्म की सिद्धि में अत्यन्त क्लेश होता ही है तथापि उसकी अपेक्षा अव्यक्त में अर्थात् सम्पूर्ण इन्द्रियों के अविषय अदृश्य आदि गुणवाले, अतर्क्य, अचिन्त्य तथा अप्रमेय परब्रह्म में जिनका चित्त आसक्त (उसके स्वरूप की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील) है, इसप्रकार अव्यक्त में आसक्त चित्तवाले पुरुषों को (निराकार परब्रह्म का निदिध्यासन करने वाले यतियों को) विषय त्याग से आश्रम धर्म के अनुष्ठान से यम, नियम के अभ्यास से असत् प्रत्यय के निराकरण से तथा निराकार ब्रह्म में मनःस्थापन से जो क्लेश उत्पन्न होता है वह अधिकतर होता है, क्योंकि पूर्वोक्त प्रत्येक साधन की सिद्धि दुष्कर है। उनमें भी अनात्मा (देहादि) में 'अहं' भाव का परित्याग ब्रह्मा भी नहीं कर सकते। इसलिए वह अत्यन्त दुष्कर है। तथा ब्रह्म में जगत् के प्रत्यय का त्याग भी नहीं किया जा सकता है क्योंकि उसका त्याग

निरन्तर क्लेश से ही हो सकता है। इसलिए ब्रह्मविद् निर्गुण ब्रह्म के उपासक को अत्यधिक क्लेश होता है, यह कहने का अभिप्राय है। इस विषय को भगवान् स्वयं स्पष्ट करते हैं। हि—जिस कारण से **अव्यक्ता गतिः देहवद्भिः दुःखम् अवाप्यते**—अव्यक्तात्मिका गति अर्थात् निर्गुण ब्रह्मभाव की प्राप्ति देह में आत्मबुद्धि करने वालों के (देह में आत्म तादात्म्य रखने वाले पुरुषों के द्वारा) दुःखपूर्वक (अत्यन्त क्लेश से) की जाती है। चिरकाल तक नित्य, निरंतर, नियत, निर्विकल्प समाधिनिष्ठा विशेष की अधिकता के बिना पुरुष का देहादि में जो अनादिकाल से अहंकार चला आ रहा है, वह सामान्य प्रयत्न से निवृत्त नहीं होता है। देहात्मबुद्धि निःशेष नष्ट होने पर ही ब्रह्म में आत्मत्व सिद्ध होता है, इसलिए अव्यक्त ब्रह्म में आसक्त (अव्यक्त के ध्यान में प्रयत्नशील हुआ है चित्त जिनका उनको अधिकतर क्लेश होना युक्त ही है। देहादि में अहंकार का विनाश करने वाली जो साधन-सम्पत्ति है उसे आगे कही जायगी।

(३) नारायणी टीका—जो साधक शास्त्रविहित अपना स्वधर्म पालन करते हुए ईश्वर अर्पणबुद्धि से सभी कर्म का अनुष्ठान कर चित्तशुद्धि प्राप्त नहीं किये हैं तथा श्रवण, मनन निदिध्यासनादि से अनात्म शरीरादि से शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा को पृथक् (विवेक) कर उस आत्मस्वरूप का अनुभव नहीं किये हैं अर्थात् देहात्मबुद्धि से पूर्णतया मुक्त नहीं हुये हैं वे यदि निर्गुण, निराकार, अव्यक्त, अक्षर ब्रह्म में चित्त को आसक्त अर्थात् विनिष्ट करना चाहे तो उनको अधिकतर क्लेश ही उत्पन्न होगा। परम-शान्ति प्राप्ति तो दूर ही की बात है क्योंकि—

(१) अपने को देहादि—आकारयुक्त जबतक मानेंगे तब तक भगवान् के निराकारस्वरूप की भावना भी उनके लिए असम्भव होगा अर्थात् वे उपास्यरूप में जिसका चिंतन करेंगे वह भी आकारयुक्त (साकार) ही होगा।

(२) जबतक देहादि को आत्मारूप से स्वीकार करेगा तबतक देह—इन्द्रियों के प्रयोजन की सिद्धि के लिए विषयों का चिंतन अवश्य ही रहेगा, अतः अक्षरब्रह्म का मूल साधन जो 'संनियम्येन्द्रियग्रामम्' अर्थात् विषयों से इन्द्रियों की निवृत्ति करना है वह उनके लिए सम्भव नहीं होगा।

(३) सीमित देह में आत्माभिमान रखने पर 'मैं मेरा और 'तू तेरा' इस

प्रकार की भेद बुद्धि भी अवश्यंभावी है। अतः अक्षर ब्रह्म का द्वितीय साधन जो 'समबुद्धि' है वह भी उनके लिए सम्भव नहीं होगी।

(४) मैं और मेरा इत्यादि भेदबुद्धि जब तक रहेगी तब तक राग-द्वेष से मुक्त होने का कोई उपाय नहीं है। अतः उनके लिए 'सर्वभूतहितेरत' होना असम्भव है। इस प्रकार देहेन्द्रियों में आत्मभिमान करने वाले पुरुष के लिए सगुण ब्रह्म की उपासना ही सहज एवं सुखकर है। अपने अधिकार को न जानकर जो उत्तम अधिकारी के साधन को श्रेष्ठ मानकर अव्यक्त अक्षर ब्रह्म की उपासना करते हैं उनको दुःख की गति ही प्राप्त होती है अर्थात् उपासना करने के समय भी दुःख एवं उसका फल भी दुःख ही होता है इस प्रकार अपने अधिकार के अनुसार भजन नहीं करने के कारण उपासक अपने को उत्तम अधिकारी प्रतिपादन कर अपनी तथा जगत् की प्रतारणा ही करता है।

[प्रश्न होगा कि चतुर्थ श्लोक में तुमने कहा कि निर्गुण अक्षरब्रह्म का उपासक मुझकों ही प्राप्त होता है गीता के आठवें अध्याय में तुमने कहा कि सगुण ब्रह्म उपासकों को अधिष्ठान का ज्ञान न होने से (अतः अविद्या की निवृत्ति न होने के कारण) कार्य ब्रह्म के लोक में (ब्रह्मलोक में) जाकर ऐश्वर्य भोगरूप विशेष फल मिलता है। अतः दोनों उपासनाओं के फलों में भेद है। इनमें निर्गुण उपासना से मोक्षरूप ब्रह्मपद की प्राप्ति होने के कारण निर्गुण उपासना ही श्रेष्ठ प्रतीत होता है। अतः देहाभिमानी पुरुष भी फल की विशेषता के कारण अधिकतर क्लेश सहन कर क्यों नहीं निर्गुण उपासना करेगा ? इस पर अब भगवान कहते हैं कि सगुण ईश्वर का उपासक भी मुझ परमेश्वर की कृपा से क्रमशः (अर्थात् ब्रह्मलोक के ऐश्वर्य के भोग के पश्चात्) मेरा परमपद प्राप्त कर लेता है जो कि साक्षात्‌रूप से निर्गुण उपासक ब्रह्मनिष्ठ योगी प्राप्त कर लेते हैं–]

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

अन्वय—ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः सन्तः अनन्येन योगेन मां ध्यायन्तः उपासते, हे पार्थ ! मयि आवेशितचेतसां तेषाम् अहम् मृत्युसंसारसागरात् न चिरात् समुद्धर्ता भवामि ।

अनुवाद—परन्तु जो समस्त कर्मों को मुझ ईश्वर में समर्पण करके मेरे परायण होकर अर्थात् मैं ही उनकी परमगति हूँ ऐसा निश्चयकर, अनन्ययोग से अर्थात् विश्वरूप परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी का अवलम्बन न कर, अनन्य समाधिरूप योग से ही मेरा ध्यान (चिन्तन) करते हुए मेरी उपासना करते हैं, ऐसे मुझ विश्वरूप परमेश्वर में ही समाहित चित्तवाले भक्त को मृत्युयुक्त संसार समुद्र से मैं (ईश्वर) शीघ्र ही सम्यक् प्रकार से उद्धार कर देता हूँ ।

भाष्यदीपिका—**ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य**—जो समस्त कर्म मुझ सगुण ईश्वर को (वासुदेव को) समर्पित कर अर्थात् सम्यक् प्रकार से अर्पित कर [सगुण उपासकगण ईश्वर के अनुग्रह से क्लेश के विना निर्गुण ब्रह्म उपासना का फल जो मोक्ष है वह प्राप्त हो सकता है या नहीं, इस शंका का निवारण करने के लिए (अर्थात् वे भी क्रमशः मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं यह सूचित करने के लिये) 'तु' शब्द है (मधुसूदन)] **मत्पराः सन्तः**—मत्परायण होकर [मैं (भगवान् वासुदेव) ही पर (परम अर्थात् प्रकृष्ट) प्रीति के विषय अथवा मैं ही जिनकी परमगति हूँ वे मत्पर हैं, इस प्रकार होकर] **अनन्येन योगेन**—अनन्य योग से, मुझ विश्वरूप परमात्मा को छोड़कर जिसका अन्य कोई अवलम्बन नहीं है इस प्रकार अनन्य होकर एकान्त भक्ति से चिंतन करते हुए जो समाधिरूप योग (अर्थात् मुझमें चित्त की समाहित अवस्था) प्राप्त होता है वह अनन्य योग है। इसके द्वारा **माम् ध्यायन्तः उपासते**—मेरा [सकल सौन्दर्य सारनिधि आनन्दघनमूर्ति, द्विभुज या चतुर्भुज, समस्त जीवों के मन को मोहित करनेवाली अत्यन्त मनोहर मुरली को सातों स्वरों से बजाते हुए अथवा कर-कमलों में शंख, पद्म, कौमोदकी गदा और चक्र धारण करनेवाले भगवान् वासुदेवरूप मेरा अथवा मेरे नरसिंह और राघव आदि रूप का अथवा जैसे कि तुमने देखा है उस विराट्रूप का (मधुसूदन)] ध्यान (चिंतन) करते हुए उपासना करते हैं [अर्थात् अविच्छिन्न चित्तवृत्तियों का प्रवाह चलाते हैं अथवा मेरे समीपवर्ती होकर 'आसते'

अर्थात् बैठते हैं–(मधुसूदन)] **मयि·आवेशित-चेतसाम् तेषाम्**—मुझ विश्वरूप परमेश्वर में ही जिन्होंने अपना चित्त समाहित कर दिया, ऐसे केवल एक मुझ परमेश्वर की उपासना में लगे हुए उन भक्तों का [उपर्युक्त रूपोंवाले मुझ में जिन्होंने अपने चित्त को आविष्ट (एकाग्रतापूर्वक प्रविष्ट) कर दिया उनका] **अहम्**–उनसे उपासित मैं भगवान् (परमेश्वर) **मृत्युसंसारसागरात्**—मृत्युयुक्त संसार समुद्र से [संसार शब्द का अर्थ है मिथ्या अज्ञान और उसका कार्यभूत प्रपञ्च (मधुसूदन)] वही सागर के समान दुस्तर है अर्थात् पार उतरने में कठिन है। यह विश्वप्रपञ्च अज्ञान का ही कार्य है, नित्यविकारी होने के कारण यह प्रपञ्च उत्पन्न होने के साथ-साथ ही मृत्यु अथवा विनाश की ओर चलता है। अतः मृत्यु से यह संसार प्रपञ्च सदा ही युक्त रहने के कारण इसको "मृत्युसंसार" कहा जाता है। [आनन्दगिरि के मत में मृत्यु का अर्थ है अज्ञान और वह उसी अज्ञान के कार्य को संसार कहते हैं। अतः 'मृत्युसंसार' पद का अर्थ है अज्ञान एवं उसका कार्य प्रपञ्च। मृत्यु (अज्ञान) के साथ संसार सर्वदा ही युक्त रहता है, अतः मृत्यु (अज्ञान) युक्त संसार (विश्वप्रपञ्च) को मृत्युसंसार कहते हैं। ज्ञान के विना दूसरे उपाय से इससे उत्तीर्ण होना (पार पाना) असम्भव है, इसलिए मृत्युसंसार की दुस्तर सागर (समुद्र) के साथ तुलना की गई है।] इस प्रकार मृत्युसंसारसागर से **न चिरात्**—विलम्ब से नहीं किन्तु शीघ्र ही अर्थात् इसी जन्म में ज्ञान का प्रदीप जलाकर **समुद्धर्ता भवामि**—सम् (सम्यक्रूप से) अथवा विना परिश्रम के ही उत् (ऊँचे) अर्थात् समस्त बाधाओं की अवधिभूत अर्थात् शेष सीमास्वरूप शुद्ध ब्रह्म में **धर्ता**—अर्थात् रखनेवाला हो जाता हूँ अर्थात् उनको तत्त्वज्ञान प्रदान कर ब्रह्मरूप कैवल्य मोक्ष प्राप्ति के अधिकारी कर उद्धार कर देता हूँ। **हे पार्थः**–अर्जुन भगवान् के अनन्य भक्त पृथा (कुन्ती) का पुत्र होने के कारण मुक्ति का अधिकारी है, इस प्रकार आश्वासन देने के लिए (ढाढ़स बधाँने के लिए) भगवान् ने इस प्रकार सम्बोधन किया।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[मेरे भक्त को मेरी कृपा से अनायास ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है, यह बात भगवान् यहाँ अब दो श्लोकों द्वारा कहते हैं—] **ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य इत्यादि**—मुझ परमेश्वर में सम्पूर्ण कर्म का

संन्यास (समर्पण) कर मेरे परायण होकर मेरा ध्यान करते हुए अनन्य योग से अर्थात् जिसमें कोई अन्यजन भजने योग्य नहीं है ऐसे ऐकान्तिक भक्तियोग से मेरी उपासना करते हैं—हे अर्जुन ! एवं इसप्रकार जिन्होंने चित्त को मुझमें प्रविष्ट कर दिया है **तेषाम् अहम् समुद्धर्ता इत्यादि**—उनका मैं मृत्युयुक्त संसार-समुद्र से शीघ्र ही सम्यक् प्रकार से उद्धार करने वाला होता हूँ ।

(२) **शंकरानन्द**—क्योंकि अक्षर ब्रह्म की उपासना देहाभिमानी पुरुष के लिए क्लेश दायक है इसलिए अक्षर ब्रह्म की उपासना की अनायास सिद्धि के लिए सगुण ब्रह्म की उपासना मुमुक्षु को अवश्य करनी चाहिए । जो उसमें निष्ठा रखते हैं वे सुखपूर्वक अक्षर की उपासना कर मोक्षरूप मुझको प्राप्त होते हैं । इसप्रकार दोनों में (अर्थात् सगुण ब्रह्म की उपासना तथा निर्गुण अक्षर ब्रह्म की उपासनाओं में) साध्य साधन भाव को अंगीकार करके सानध का ही अवश्य अनुष्ठान करना चाहिए इसे सूचित करने के लिए कहते हैं । 'तु' शब्द पूर्वोक्त निर्गुण उपासक की व्यावृत्ति के लिए है । जो सगुण उपासक मेरे भक्त सम्पूर्ण वैदिक या अवैदिक कर्मों का मुझ परमेश्वर में त्यागकर (मुझे अर्पण कर) मत्पर (केवल मुझे ही जीवन की परमगति मानकर) अथवा विश्वरूप परमात्मा मैं ही परम (अर्थात् एकमात्र श्रवण करने के योग्य स्पर्श करने के योग्य, मनन करने के योग्य और जानने के योग्य पदार्थ) जिनका हूँ, वे मत्पर हैं तथा अपने से भिन्न सब वस्तु परमात्मा का रूप ही है इसप्रकार बुद्धि रखने वाला है इसलिए **अनन्येन योगेन**—मेरे बिना कोई अन्य बुद्धि का अवलम्बन जिसमें विद्यमान नहीं है, वह अनन्य है । इसप्रकार योग से (समाधि से) **माम्**—मुझ विश्वरूप सर्वात्मक परमेश्वर का **ध्यायन्ते उपासते**—ध्यान करते हुए (उपासना करते हैं) अर्थात् मदाकारा (ब्रह्माकारा) वृत्ति से सदा मुझको ही जो भजते हैं अर्थात् निरन्तर अनुसन्धान करते हैं ।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्व श्लोक में कहा है कि जो देह आदि में आत्म-बुद्धि रखते हुए निर्गुण अक्षरब्रह्म की उपासना करते हैं उनके लिए उसप्रकार का साधन अत्यन्त क्लेशकर होता है एवं निर्विशेष परब्रह्म का पद (मोक्ष) प्राप्त करना भी अत्यन्त दुष्कर होता है । अब शंका होगी कि मोक्ष या परमानन्द तथा परमशान्ति प्राप्ति ही

जब प्रत्येक मनुष्य जीवन का परमलक्ष्य वस्तु है एवं वह जब निर्गुण ब्रह्म की स्वरूता को प्राप्त न होने तक मिलती ही नहीं तब मुमुक्षु क्लेश स्वीकार करके भी उस निर्गुण परब्रह्म पद को प्राप्त करने के लिए क्यों नहीं भगवान् के निर्विशेष स्वरूप की ही उपासना करेगा ? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि सगुण ब्रह्म की उपासना से भी क्रमशः वही पद मिल सकता है जो कि निर्गुण ब्रह्म उपासना से। साधन जब तक सुखकर एवं अपने अधिकार के अनुसार नहीं होता है तब तक उसमें निष्ठा रखना असम्भव है। अतः अभीतक जिसकी देहादि में अहंबुद्धि है अर्थात् देहात्माभिमान है वह यदि देहादि के प्रयोजन के लिए अथवा स्वभाव वश सर्व कर्म करते हुए भी निष्काम होकर केवल मेरी प्रीति के लिए ही मुझे (सगुण परमेश्वर वासुदेव को ही) उन कर्मों का समर्पण करता है [ऐसा क्यों करेगा ? इस पर कहते हैं—] क्योंकि वह मत्पर है अर्थात् मुझे ही [श्रुति में जिस के सम्बन्ध में कहा है—'एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्' इसप्रकार मैं ही सबकुछ हूँ ऐसा जानकर मुझे ही] जीवन का परंप्राप्तव्य अर्थात् परंगति मान लिया है इसलिए मुझसे स्वर्णकार जिस प्रकार सर्व प्रकार के अलंकारों में स्वर्ण बिना और कुछ नहीं देखते हैं उसी प्रकार 'वासुदेव सर्वमिति'—वासुदेव ही सब कुछ है ऐसा निश्चय कर मुझे अन्य (अतिरिक्त) किसी का अवलम्बन नहीं कर मेरे साथ योग के लिए अर्थात् एक होने के लिए जो मुझमें समस्त चित्तवृत्तियों की समाधि से अनन्य (भेदभावरहित) हो अर्थात् मैं ही सर्वज्ञत्वादि लक्षणयुक्त भगवान् वासुदेवरूप परमेश्वर हूँ, इसप्रकार अहं-ग्रहरूप योगद्वारा अर्थात् चित्त की समाधि द्वारा मेरी (उपर्युक्त लक्षणयुक्त परमेश्वररूप अथवा द्विभुज या चतुर्भुजरूप वासुदेव का अथवा यथादर्शित विश्वरूप मेरा अथवा नरसिंह राघव इत्यादि अवताररूप मेरा अथवा मेरे किसी भी सगुणरूप का) निरंतर ध्यान (चिंतन) करते हुए उपासना करता है अर्थात् जिसकी मदाकारा चित्तवृत्ति का प्रवाह निरंतर (निर-वच्छिन्न भाव से) प्रवाहित होता रहता है एवं इसप्रकार होकर जिसका चित्त विषय में अथवा देहादि में लिप्त नहीं होकर मुझमें ही आविष्ट (समाहित) रहता है उसको अचिरात (अतिशीघ्र) मृत्युक्त संसार सागर से सम्यक् प्रकार से उद्धार कर देता है संसार के सब पदार्थों की ही गति मृत्यु में है इसके लिए इस संसार को मृत्यु संसार

कहते हैं। समुद्र की तरह यही संसार अपार (असीम) है, इसको पार करना भी अर्थात् इससे उद्धार पाना भी समुद्र के समान दुष्कर है। किन्तु भगवान् के अनन्य भक्तों के लिये इससे पार पाना कठिन नहीं है क्योंकि भगवान् कहते हैं कि इस मृत्यु-रूप संसार समुद्र से मैं मेरे भक्तों का समुद्धर्ता हूँ अर्थात् सम् (सम्यक् प्रकार से अनायास) उद् (उर्ध्वं अर्थात् संसार का महाप्रलय होने के बाद भी इस संसार का अधिष्ठानभूत जो शुद्धचैतन्यस्वरूप निर्गुण निराकार अखण्ड अद्वैत ब्रह्म सत्ता विद्यमान रहती है उसमें) धर्ता (तत्त्वज्ञान प्रदान कर मेरे अनन्य भक्त को धारण करता हूँ अर्थात् उस परब्रह्म के साथ एकत्वानुभव करा देता हूँ,) भगवान् के कहने का अभिप्राय यह है कि उस सगुण ब्रह्म के उपासक के हृदय में ज्ञानदीप प्रज्वलित कर उसको मैं इस भयानक संसारगति से उद्धार कर देता हूँ (गीता–१०।१०–११)]।

पहले ही कहा जा चुका है कि सगुण ब्रह्म के उपासक अपने को प्रकृति मानकर अर्थात् प्रकृति के कार्य देहादि में आत्मबुद्धि कर परमपुरुष सगुण भगवान् को (सर्वेश्वर सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी भगवान् को) केवल अनुष्ठित कर्म ही नहीं बल्कि अपने को भी समर्पित कर देता है। इसप्रकार निरंतर भगवान् के स्थूलरूप में चित्त को धारण करने पर अर्थात् भगवान् के किसी रूप में चित्त को एकाग्र करने पर प्रेम भक्ति का उदय होता है। उसके पश्चात् स्थूलरूप को छोड़कर सूक्ष्म हिरण्यगर्भ की अर्थात् समष्टि भगवान् की विश्वमूर्ति की धारणा में योग्यता प्राप्त होती है। उसके पश्चात् निर्विकल्प समाधि अवस्था में जब चित्त चला जाता है तब स्थूल व सूक्ष्म सभी रूपों का विलय हो जाता है एवं हृदयगुहा में **निर्गुण अखण्ड अद्वैत परमात्मा**—प्रकाशमान होते हैं एवं जीव यह परमार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेता है कि मैं ही वह परमात्मा (पूर्ण ब्रह्म) हूँ। इसप्रकार आत्मभूत परमात्मा का प्रकट होना एवं तत्त्वज्ञान का उदय होना ही मृत्यु-युक्त संसार-सागर से त्राण पाने का एकमात्र उपाय है। इसलिए भगवान् कहते हैं कि मेरी सगुण स्वरूप से उपासना करने पर मैं स्वयं ही मेरे अनन्य भक्त का मृत्यु-युक्त संसार-सागर से समुद्धर्ता (पूर्णरूप से त्राण करने वाला) होता हूँ। अतः जो सर्वविषयकामना परित्याग कर एकमात्र भगवान् की प्राप्ति के लिए ही कामना करते हैं उसके लिए सकामभाव से सगुण ब्रह्म उपासकों के समान ब्रह्मलोक में गमन कर क्रम-

मुक्ति नहीं करना पड़ता है। वह तो जन्म में ही अतिशीघ्र भगवान् का निर्गुण स्वरूप का साक्षात्कार कर जीवन्मुक्ति की अवस्था प्राप्त कर लेता है एवं मृत्यु के पश्चात् कैवल्य मोक्ष लाभ करता है। यही 'न चिरात्' पद का तात्पर्य है। श्लोक का तात्पर्य यह है कि सगुण उपासक के हृदय में स्वयं भगवान् तत्त्वज्ञान का प्रदीप प्रज्वलित कर मृत्युरूप संसार-सागर से उसका पूर्णरूपेण उद्धार करते हैं, यदि उसका चित्त भगवान् के किसी भी सगुणरूप में निरन्तर आवेशित (समाहित या एकाग्र) रहता है। भगवान् में किस प्रकार से चित्त समाहित हो सकता है, इस पर कहते हैं—**ध्यायन्त**—उपासते अर्थात् निरंतर चिंतनपूर्वक यदि चलते, फिरते, खाते, सोते भगवान् के सामने ही (उप) अपना आसन लगाते हैं। इसप्रकार भगवान् के ध्यान में निरन्तर स्थित रहना ही यथार्थ उपासना है। भगवान् में निश्चल ध्यान कैसे सम्भव होता है इस पर कहते हैं—**अनन्येनैव योगेन**—यदि किसी का भगवान् के अतिरिक्त किसी और विषय के लिए प्रयोजन रहे एवं उसकी प्राप्ति की चिंता रहे तब चित्त के विक्षेप रहने के कारण भगवान् की निरन्तर उपासना अथवा भगवान् में मन निविष्ट रखना असम्भव है। अतः सम्पूर्णरूप से जो विषय से अथवा देह गृहादि से निरासक्त हुआ है, वही अन्य सब चिन्ता छोड़कर भगवान् में योग का (समाधि का) सम्पादन कर सकता है। अब प्रश्न होगा कि अनन्य योग कैसे सम्भव है?—इस पर कहते है—'मत्पर' होओ। जो अपना कोई मान प्रतिष्ठा, धन दौलत यहाँ तक कि अपने जीवन की रक्षा के लिये भी उदासीन होकर एकमात्र भगवान् ही मनुष्य जीवन की प्राप्तव्य वस्तु है—उनके अतिरिक्त इहलोक परलोक में अन्य कोई प्राप्तव्य वस्तु नहीं है वही 'भगवत्परायण' (मत्पर) होता है। 'भगवत्-परायण' व्यक्ति का लक्षण क्या है? इस पर कहते हैं—'ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य' जो सगुण ब्रह्म के उपासक उनकी इष्ट देवता (सर्वेश्वर सर्वात्मा परमेश्वर) की प्राप्ति के लिए ही लौकिक प्राण धारण के लिए चेष्टा अथवा योगदान होमतपरूप सभी शास्त्रोक्त कर्म भगवान् में समर्पित कर देता है वही इसी जन्म में संसार से मुक्तिलाभ कर सकता है क्योंकि जबतक जीव अपने देह—इन्द्रियादि में आत्मबुद्धि करके अपने को भगवान् से पृथक् तथा सीमित मानता है तबतक मृत्युरूप संसार गति में वारंवार घूमता रहता है और परिच्छिन्न (सीमित) शक्तिवाला होने के कारण

उसकी वासना सदैव ही अपूर्ण रहती है, एवं इस कारण से निरंतर दुःख भोगता है। किन्तु जब भगवान् का निरंतर ध्यान करके उनके साथ एकत्व का अनुभव करता है तब वह जानता है कि स्वरूप में पूर्ण नित्य अविकारी ब्रह्म ही है अर्थात् वह भूमा स्वरूपता प्राप्त होकर परमानन्द प्राप्त करता है। भगवान् के भक्त की गति तथा साधारण अज्ञानी देहाभिमानी जीव की गति में यही विशेषता है।

[इस प्रकार सगुण उपासक तथा भगवान् के अनन्य भक्त भगवान् की कृपा से ही संसार सागर से मुक्त हो जाते हैं ऐसे सगुण उपासना की स्तुति कर अब अधिकारी भेद से भिन्न भिन्न साधनों का विधान करते हैं—]

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

अन्वय—मयि एव मनः आधत्स्व मयि (एव) बुद्धिं निवेशय अतः ऊर्ध्वं मयि एव निवसिष्यसि (अत्र) संशयः न (अस्ति)।

अनुवाद—मुझमें अर्थात् मेरे सगुणस्वरूप में मनको समाहित (स्थिर) करो और मुझमें ही निश्चयात्मिका बुद्धि को नियुक्त करो–इससे तुम मुझमें ही निवास करोगे, इसमें कोई संदेह नहीं है।

भाष्यदीपिका—मयि एव—मुझ सगुण ब्रह्म में ही (विश्वरूप ईश्वर में ही) **मनः आधत्स्व**—संकल्प विकल्पात्मक मनको स्थापन करो (स्थिर करो) अर्थात् समस्त मनकी वृत्तियाँ जिससे मुझको ही विषय करेंगी ऐसी ही बना दो तथा **मयि एव बुद्धिं निवेशय**—तथा मुझमें ही निश्चय करने वाली बुद्धि को नियुक्त करो अर्थात् बुद्धि की समस्त वृत्तियों को मुझे ही विषय करने वाली बना दो। कहने का अभिप्राय यह है कि मैं सर्वात्मा वासुदेव ही सबकुछ हूँ एवं मुझसे अतिरिक्त और कोई प्राप्तव्य वस्तु नहीं है, इसप्रकार बुद्धि द्वारा अध्यवसाय (निश्चय) कर मुझमें ही मनको स्थिर करो तथा बुद्धि को भी मुझमें निविष्ट कर दो अर्थात् अन्य सब विषयों की चिन्ता को छोड़कर सर्वदा मेरा ही चिंतन करो। उससे क्या फल प्राप्त होगा, इसपर कहते हैं **मयि एव निवसिष्यसि अतः ऊर्ध्वं न संशयः**—तुम ज्ञान प्राप्त करके

इस शरीर के पतन होने के उपरान्त निःसन्देह मदात्मभाव से अर्थात् मेरी स्वरूपता प्राप्त कर मेरे साथ एकात्मबुद्धि से मुझमें (शुद्ध ब्रह्म में) ही निवास करोगे, इसमें कुछ भी संशय नहीं है अर्थात् इस विषय में संशय नहीं करना चाहिए। **'एव अत ऊर्ध्वम्'**—इसमें श्लोक पूर्ति के लिए सन्धि नहीं की गई।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—जब कि ऐसी बात है इसलिए तुम **मयि एव मन आधत्स्व इत्यादि**—मुझमें ही संकल्प विकल्पात्मक मनको स्थिर करो और निश्चयात्मक बुद्धि को भी मुझमें ही निविष्ट करो। इसप्रकार करते हुए तुम मेरे प्रसाद से (कृपा से) ज्ञान को प्राप्त होने के पश्चात् शरीर का पतन होने के उपरान्त (मरने के बाद) मुझमें ही निवास करोगे अर्थात् मेरे साथ एक होकर मेरी स्वरूपता को प्राप्त करोगे। श्रुति में भी कहा है—**देहान्ते देवस्तारकं परब्रह्म व्ययष्टे**—देह के अन्त में भगवान् महादेव तारक परमब्रह्म के मन्त्र का विशेषरूप से (भलीभांति) उपदेश देते हैं।

(२) शंकरानन्द—[जिस कारण से अक्षर का ज्ञान तथा उसका फल मोक्ष केवल मेरी कृपा से ही प्राप्त हो सकता है और मेरा प्रसाद (कृपा) केवल मेरी उपासना से प्राप्त होता है, इसलिए तुम मेरी उपासना करो—ऐसो कहते हैं—] **मय्यैव अत ऊर्ध्वम्**—यद्यपि मकार जोड़कर सन्धि हो सकती थी तथापि अपने बहुव्याकरण-ज्ञत्व का प्रकाशन करने के लिए 'एव अत ऊर्ध्वम्' ऐसा कहा है। **मय्येव मनः आधत्स्व**—मुझ सगुण विश्वरूप में ही मन लगाओ (क्योंकि मेरी उपासना के बिना निराकार ब्रह्म का ज्ञान तथा उसकी उपासना अति दुर्लभ है)। कहने का अभिप्राय यह है कि मुझको ही सर्वत्र मन की वृत्ति का विषय करो, शब्दों आदि को नहीं **मयि बुद्धिं निवेशय**—मेरे उस सगुण स्वरूप में ही बुद्धि का [वस्तु तत्त्व का अवधारण करने वाले (निश्चयात्मिका) अतःकरण की विशेष वृत्ति का] प्रवेश कराओ अर्थात् यह सब ब्रह्म ही है इस प्रकार निश्चयात्मिका बुद्धि से सदा मेरा अनुसन्धान (चिंतन) करो। **मयि एव निवसिष्यसि अत ऊर्ध्वम् न संशयः**—इसके पश्चात् निर्विशेष ज्ञान को प्राप्त करके उस ज्ञान के बल से देह के सम्बन्ध को छोड़कर मुझ निर्विशेष परब्रह्म में वास करोगे (स्थित होओगे) अर्थात् विदेह

कैवल्य को प्राप्त होओगे, इसमें संशय नहीं है। तुम मेरे भक्त हो अतः प्रतिबन्धन न होने के कारण कैवल्य प्राप्त होगा या नहीं ऐसा संदेह नहीं करना चाहिए। किन्तु जो मेरा आश्रय करते हैं उनकी चित्तशुद्धि मेरी उपासना से होती है चित्तशुद्धि से ज्ञान और ज्ञान से विदेह कैवल्य प्रतिबन्ध के बिना ही सिद्ध होता है।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्वश्लोक में किस प्रकार से ध्यानपूर्वक उपासना करते हुए अनन्य भक्त को भगवान् संसार गति से उद्धार करते हैं यह कहा गया है। उस प्रकार का भक्त मरने के पश्चात् भगवान में ही निवास करता है, वह अब अर्जुन को कहा जा रहा है। तुम मेरे विश्वरूप ईश्वर (सगुण ब्रह्म) में संकल्प विकल्पात्मक मन स्थापित करो अर्थात् मुझको निरंतर मन की वृत्ति का विषय करो अर्थात् मुझे छोड़कर तुम्हारी मन की वृत्ति दूसरी किसी वस्तु का अवलंबन न कर सके इस प्रकार मन को सर्व विषय से निवृत्त कर मुझमें ही स्थिर तथा अविचल रखो। प्रश्न—इस प्रकार रखने का क्या फल है ? इस पर भगवान के कहने का अभिप्राय यह है कि मन ही अज्ञान से एक मात्र अखण्ड अद्वितीय परब्रह्म स्वरूप मुझको विश्व-आकार में कल्पनाकर मकड़ी जिस प्रकार अपने से उत्पन्न हुए जाल में फंस जाती है, उसी प्रकार मन भी अपने रचे हुए जगत-जाल में फंस कर (बद्ध होकर) जन्म-मृत्यु के चक्कर में भटकता है। मन ही अपने संकल्प से मिथ्या जगत् सृष्टिकर स्वर्ग की कल्पना कर सुख भोगता है तथा नरक की कल्पना कर दुःख भोगता है जैसे चलचित्र में अधिष्ठान सत्ता श्वेत वस्त्र खण्ड) के विना जो कोई भी दृश्य वस्तु दिखलाई पड़ती है उनकी कोई भी पारमार्थिक सत्ता नहीं है। अतः स्वर्ग नरक, जन्म-मृत्यु ये सभी मनकी कल्पना प्रसूत है। यह मन जबतक जगत् में आसक्त रहता है तभी तक जन्म-मृत्यु के प्रवाह में घूमता रहता है और वही मन जब अध्यस्त (अज्ञान कल्पित) नामरूपात्मक जगत् को छोड़कर भगवान् में स्थापित होता है तब भगवान के साथ एक होकर वही परमानंदरूप ब्रह्मरूपता को प्राप्त होता है। भगवान् फिर कहते हैं कि मुझमें बुद्धि भी निविष्ट (प्रविष्ट) करो अर्थात् बुद्धि भी मुझको छोड़कर किसी प्रकार से विषयान्तर में न जाय, इस प्रकार सर्व विषय से बुद्धि की निवृत्ति कर मुझ में निश्चल रूप से स्थापित करो। प्रश्न होगा कि मनको भगवान में स्थित (निश्चल) करने पर ही जब ब्रह्मरूपता

प्राप्त हो सकती है तो फिर बुद्धि को भी भगवान के सगुणा रूप में निविष्ट करने का तात्पर्य क्या है ?—इसका उत्तर यह है कि मनका धर्म है संकल्प विकल्प करना, किन्तु बुद्धि जबतक निश्चय नहीं करे तबतक किसी भी क्रिया का आरम्भ करना सम्भव नहीं होता है। इसलिए मन केवल संकल्प-विकल्प से ब्रह्मरूप अधिष्ठान में नामरूपात्मक जगत् की सृष्टि करता है, यह ठीक है किन्तु जबतक बुद्धि जगत् प्रपञ्च सत्य है एवं सुखमय है इस प्रकार निश्चय नहीं करती तबतक जीव उन विषयों में आसक्त होकर आबद्ध नहीं हो सकता। इसलिए संकल्प-विकल्पात्मक मनको आत्मस्वरूप भगवान में स्थिर करना तबतक सम्भव नहीं होगा जबतक बुद्धि, शास्त्र तथा गुरुकृपा से एवं वेदान्त वाक्यादि के श्रवण तथा मनन से, प्रपञ्च के मिथ्यात्व एवं दुःखत्व तथा एकमात्र अखण्ड चैतन्य स्वरूप ब्रह्म के ही नित्यत्व, सत्यत्व एवं परमानंदत्व को निश्चय न करे। क्योंकि प्रत्यक्ष जगत् में सत्यत्व बुद्धि रहने पर मन की वृत्तियाँ पूर्वाभ्यासवश प्रत्यक्ष विषय सुख प्राप्ति के लिए ही प्रयत्न करेंगी। इसलिए ब्रह्म के सत्यत्व का निश्चयकर बुद्धि का आत्मा में विलय होना समाधि के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार जब मन तथा बुद्धि आत्मा में लय हो जाते हैं तब चित्त की सभी वृत्तियों का निरोध होने पर माया का आवरण भंग हो जाता है एवं नित्य शुद्ध परमात्मा अपने स्वरूप भक्त हृदय में प्रकाशित होता है। इस प्रकार भगवान् की कृपा से जीव अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर जीवित अवस्था में ही जीवन्मुक्ति का आनंद भोगकर अत ऊर्ध्वम्—अर्थात् इस देह के अन्त होने पर अर्थात् मृत्यु के पश्चात् मुझ शुद्ध गुणातीत ब्रह्म में ही एक होकर वास करोगे, इस विषय में संशय करना उचित नहीं होगा, यही भगवान के कहने का अभिप्राय है।

सगुण ब्रह्म के किसी रूप में (मूर्ति में) मन और बुद्धि समाहित करने पर निर्विकल्प समाधि होती है। मन में किसी प्रकार का विकल्प (कल्पना) न रहने के कारण कल्पनात्मक रूप का (मूर्तिका) भी अन्तर्ध्यान हो जाता है अर्थात् दृश्य रूप से किसी पदार्थ का उस समय रहना असम्भव है। अतः द्रष्टा अथवा साक्षी आत्मा जो शुद्ध चैतन्य स्वरूप अद्वितीय ब्रह्म है वही प्रकट रहता है और जीव भी उसके साथ एक होकर ब्रह्मस्वरूपता प्राप्त करता है, यही कहने का तात्पर्य है। मरने के

पश्चात् इस प्रकार मुक्त पुरुष ब्रह्म में ही लय हो जाता है इसलिए श्रुति कहती है– 'ब्रह्म सन् ब्रह्माप्येति' 'न तस्य प्राणा उत्क्रमन्ति' इत्यादि।

[अब जो सगुण ब्रह्म का ध्यान करने में असमर्थ है उनकी असमर्थता के तारतम्य से पहले प्रतिमादि बाह्य आलम्बनों में अभ्यास करना, उसमें असमर्थ होने पर भागवत धर्मों का आचरण करना और उसमें भी समर्थ न होने पर समस्त कर्म फलों का त्याग करना, इन तीनों साधनों का तीन श्लोंको से विधान किया जाता है—]

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

अन्वय—हे धनञ्जय! अथ मयि चित्तं स्थिरं समाधातुं न शक्नोषि ततः अभ्यासयोगेन माम् आप्तुम् इच्छ।

अनुवाद—हे धनञ्जय! यदि तुम चित्त को स्थिरतापूर्वक (अचल रूप से) मुझमें नहीं स्थापित कर सकते (लगा सकते) हो तो अभ्यासयोग से अर्थात् वारंवार मुझमें चित्त को लगाने के अभ्यास से मेरे साथ योग का सम्पादन द्वारा मुझ विश्वरूप परमेश्वर को प्राप्त करने की इच्छा करो।

भाष्यदीपिका—अथ–पक्षान्तर में अर्थात् जिससे **मयि चित्तं स्थिरं समाधातुं न शक्नोषि**—मुझ (विश्वरूप) में यदि चित्तको स्थिर रूप से (अचल कर) समाहित (सम्यक् प्रकार से स्थापित) नहीं कर सकते हो **ततः**–तो **अभ्यासयोगेन** अभ्यासरूप योग के द्वारा [चित्त को सब ओर से हटाकर खींचकर प्रतिमादि किसी एक अवलम्बन में पुनः पुनः स्थिर करने का नाम अभ्यास है। उससे समाधान रूप जो योग है (उससे उत्पन्न हुई समाधि से भगवान् के साथ जो योग अर्थात् एकात्मता प्राप्त होती है) उसे अभ्यासयोग कहते हैं। ऐसे अभ्यासयोग के द्वारा **माम् इच्छ आप्तुम्**—मुझ विश्वरूप परमेश्वर को प्राप्त करने की इच्छा करो अर्थात् प्रयत्न करो! हे धनञ्जय—इस सम्बोधन का तात्पर्य यह है कि तुम राजसुयादि यज्ञ के लिए बहुत से शत्रुओं को जीतकर धन ले आये थे, इसलिए अब जो अकेले मनरूपी शत्रु को जीतकर तत्त्वज्ञानरूप धन ले आओगे यह तुम्हारे लिए कोई आश्चर्य की बात नहीं होगी।

टिप्पणी (१) श्रीधर—पूर्ववर्ती श्लोक में जो उपाय भगवान् ने कहा है उसमें असमर्थ साधक के प्रति सुगम उपाय बताते हैं।] **हे धनञ्जय ! अथ स्थिरं मयि चित्तं समाधातुं यदि न शक्नोषि**—जिस प्रकार चित्त स्थिर हो सकता है इस प्रकार यदि तुम मुझमें चित्त को धारण करने में समर्थ नहीं हो **ततः अभ्यास-योगेन माम् आप्तुम् इच्छ**—तो विक्षिप्त चित्त को बारबार दूसरी ओर से हटाकर मेरा पुनः पुनः स्मरण करना रूप जो अभ्यासयोग है उसके द्वारा मुझे प्राप्त करने की इच्छा करो (प्रयत्न करो)।

(३) शंकरानंद—विश्वरूप की उपासना में अनेक प्रकारके विपरीत ज्ञान प्रतिबन्धक होते हैं। अतः विश्वरूप की उपासना करने में जो असक्त है ऐसे अतिमन्द बुद्धि वालों को अन्य प्रकार के साधनों का उपदेश देते हैं। **हे धनञ्जय** अथ मयि **स्थिरं चित्तं समाधातुं यदि न शक्नेषि**—प्रज्ञा के बल से ज्ञानरूप धन को जो जीत लेता है वह धनञ्जय है। हे धनञ्जय (अर्जुन) ! अथ (अथवा) उक्तरीतिं से (पूर्वलोक में जो मैंने कहा इस प्रकार से) मुझ विश्वरूप परमात्मा में स्थिररूप से (निश्चल रूप से) चित्त का समाधान करने में (सम्यक् प्रकार से स्थापित करने में) यदि तुम समर्थ नहीं हो **अभ्यासयोगेन ततः माम् आप्तुम् इच्छ**—तो तुग अभ्यासयोग से मन निश्चल होने पर तदनन्तर (विश्वरूप) मुझ परमेश्वर को प्राप्त होने के लिए सर्वत्र भौतिकत्व प्रत्यय का त्यागकर सब ब्रह्म ही है इस प्रकार ब्रह्म प्रत्यय से सगुण ब्रह्मरूप मुझ विश्वरूप की उपासना करने की इच्छा करो अर्थात् सब ब्रह्म है इस प्रकार सब में मेरी ही भावना करो। [अभ्यासयोग शब्द का अर्थ इस प्रकार है—विपरीत प्रत्ययों का (चित्त वृत्तियों का) तिरस्कार करके स्वजातीय प्रत्ययों की आवृत्ति को अभ्यास कहते हैं। घट पट आदि प्रत्यय के प्रविलापन पूर्वक यह सब भौतिक ही है अर्थात् घट पटादि का नामरूप त्याग करने से विभिन्न वस्तु पञ्चभूत से ही बन गयी है, इस प्रकार सब प्रमाणों से सिद्ध सबके भौतिकत्व प्रत्यय का (सब पञ्चभूत का ही कार्य है इस प्रकार वृत्ति का) दीर्घकाल तक नित्य निरंतर तात्पर्य से भलीभाँति अभ्यास करने पर सदा सर्वत्र विपरीत प्रत्यय के व्यवधान से रहित अर्थात् नाम तथा रूप आदि की वृत्ति से शून्य दृढ़तर भौतिक प्रत्यय उदित होता है अर्थात् नामरूप का (घट पटादि का

नामरूप का) स्मरण नहीं होकर सर्वत्र एकमात्र उनका उपादान कारण जो पञ्चभूत है उसका ही स्मरण होता है उससे मनके चलन के हेतुभूत घटादि प्रत्ययों का (वासना सहित) क्षय होंने पर (अर्थात् घट-पट इत्यादि का नाम तथा रूप जो पहला ही मन को आकृष्ट कर उनसे प्रयोजन सिद्धि के लिए वासना उत्पन्न करते थे उन नामरूप का प्रत्यय लोप हो जाता है। इसलिए केवल उनके उपादान में ही दृष्टि रहने के कारण सब एकाकार (पञ्चभूतमय) हो जाता है। अतः भिन्न-भिन्न विषय नहीं रहने के कारण उनके प्रति मन की वासना भी लुप्त हो जाती है। एवं उसके फलस्वरूप मन भलीभांति स्थिर हो जाता है। इस प्रकार सब केवल भौतिक ही है, इस प्रत्यय का अभ्यास सगुण ब्रह्म की उपासना की सिद्धि का उपाय होने से [अर्थात् भूतमात्र ही भगवान् का (सगुण ब्रह्म का) रूप है इस प्रकार से भौतिकत्व प्रत्यय ब्रह्म उपासना की सिद्धि का उपाय होता है। इसलिए इस प्रकार के अभ्यास को योग कहा जाता है। अभ्यासरूप योग ही अभ्यासयोग है।

(३) **नारायणी टीका**—भगवान् के सगुणरूप का ध्यान करने में असमर्थ भक्त को दूसर कौन से उपाय का अवलम्बन करना उचित है, वह श्रीभगवान् को लक्ष्य कर कहते हैं— जिस प्रकार पूर्वश्लोक में कहा गया है उस प्रकार यदि परमेश्वर के सगुण विश्वरूप में चित्त को अर्थात् मन तथा बुद्धि की वृत्तियों को स्थिर (अचल) रूप से सम्यक् प्रकार आधान (स्थापन) न कर सको तो भगवान् के किसी भी एक रूप का अर्थात् प्रतिमादि का अवलंबन कर मन को पुनः पुनः विषयों से निवृत्तकर उस उस रूप में समाहित करने का प्रयत्न करो अर्थात् अभ्यास करो। [पातञ्जल योगसूत्र में कहा है—'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः' अर्थात् ध्येय वस्तु में चित्त की स्थिति का सम्पादन करने के लिए जो पुनः पुनः प्रयत्न होता है उसे अभ्यास कहा जाता है।] अतः इस प्रकार अभ्यास रूप योग से [अभ्यास दो प्रकार के हैं—चित्तवृत्तियों को विषय के साथ पुनः पुनः योग सम्पादन करने के लिए जो प्रयत्न होता है उसको विषय अभ्यास कहा जाता है। इस प्रकार अभ्यास से अज्ञानी जीव का उत्तरोत्तर विषयाकारा वृत्ति का संस्कार उत्पन्न होता है एवं उस संस्कार से फिर विषय भोगने की प्रवृत्ति वृद्धिगत होती है एवं वही पुनः पुनः जन्म-मरण के प्रवाह में परिभ्रमण का कारण बन जाती है अर्थात्

उस प्रकार का अभ्यास संसार बन्धन का कारण होता है। विषय का मिथ्यात्व तथा ब्रह्मस्वरूप आत्मा का सत्यत्व निश्चय करने के पश्चात् चित्तवृत्तियों को विषयों से हटाकर आत्मा के साथ **योग** अर्थात् एकत्व अनुभव करने के लिए पुनः पुनः जो प्रयत्न किया जाता है, उसको अभ्यास योग कहते है क्योंकि इस प्रकार के अभ्यास से विषयाकारा वृत्ति का विलय तथा ब्रह्माकारा वृत्ति की उत्पत्ति होती है एवं इस प्रकार अभ्यास परिपक्व होने के पश्चात् ब्रह्म के साथ योग अर्थात् ब्रह्मस्वरूपता प्राप्त होती है। इस प्रकार अभ्यास परमानंदघन ब्रह्मस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति के लिए ही किया जाता है, इसलिए यह मुक्ति का मुख्य साधन है। इस कारण विषय अभ्यास से अभ्यास-योग सम्पूर्णतया विपरीत फलदायक होता है। अभ्यास से ही संस्कार उत्पन्न होता है एवं संस्कार ही जीवत्व है। अतः किसी संस्कार का परिवर्तन करने के लिए अभ्यास की ही आवश्यकता होती है। विषय के साथ पुनः पुनः संग से जो दृढ़ आसक्ति होती है वह जिस प्रकार दीर्घकाल व्यापी अभ्यास से ही उत्पन्न होती है उसी प्रकार विषयों की आसक्ति का नाश भी दीर्घकालतक भगवान् के साथ पुनः पुनः संग के अभ्यास से ही सम्भव होता है। अतः संसारबन्धन जैसे जगत् के चिंतन के अभ्यास से हो गया है उसी प्रकार बन्धन से मुक्ति भी परमात्मा के चिन्तन के अभ्यास से ही सिद्ध हो सकती है, इसलिए जो मध्यम अधिकारी मोक्षरूप भगवान् को प्राप्त करना चाहता है परन्तु चित्तशुद्धि के अभाव के कारण मन और बुद्धि को तुरन्त विषयों से निवृत्तकर भगवान् में समाहित नहीं कर सकता है उसके लिए अभ्यासयोग का अवलंबन करने के लिए भगवान् ने उपदेश दिया।

श्लोक में अर्जुन को भगवान् ने **धनञ्जय**—कहकर यह आश्वासन दिया कि जब राजसूय यज्ञ में तुम राजाओं को पराजित कर बहुत धन संग्रह करने में समर्थ हुए थे तब अभ्यासपूर्वक योग का अवलंबन कर तुम कामक्रोधादि महाशत्रुओं को भी पराजित कर मुझमें सम्पूर्णरूप से चित्तवृत्तियों का निरोधकर मोक्षरूपधन को प्राप्त कर सकोगे।

[यदि अभ्यास योग द्वारा मुझे प्राप्त करने के लिए प्रयत्न न कर सको तो—]

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

अन्वय—(यदि) अभ्यासे अपि असमर्थः असि (तदा) मत्कर्मपरमः भव । मदर्थम् अपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिम् अवाप्स्यसि ।

अनुवाद—यदि तुम अभ्यास करने में भी असमर्थ हो तो मेरे लिए कर्म करने में तत्पर होओ अर्थात् मेरे लिए कर्म करना ही अपना प्रधान कर्त्तव्य समझ लो । पूर्वोक्त अभ्यास के विना केवल मेरे लिए कर्म करने मात्र से भी तुम सिद्धि (अंतःकरण की शुद्धि तथा ज्ञान से ब्रह्मभाव) प्राप्त कर लोगे ।

भाष्यदीपिका—(यदि अभ्यासे अपि असमर्थः असि—यदि पूर्व-श्लोक में उक्त अभ्यास में भी असमर्थ हो **(तदा) मत्कर्मपरमः भव**—मेरे लिए कर्म करना ही तुम्हारा अपना परम (प्रधान) कर्त्तव्य है ऐसा समझ लो [अर्थात् मेरी प्रसन्नता के लिए जो कर्म हों वे मत्कर्म हैं अर्थात्] मेरी प्रसन्नता के लिए श्रवण कीर्तनादि रूप जो कर्म (भागवत धर्म) किया जाता है वह मत्कर्म है । तत्परमो भव अर्थात् एकमात्र उन्हीं में निष्ठा रखने वाले हो जाओ । अत्र प्रश्न होगा कि अभ्यास योग के विना केवल भगवान् की प्रीति के लिए कर्म करने पर क्या लाभ होगा ? इस पर कहते हैं—

मदर्थम् कर्माणि कुर्वन् अपि—अभ्यास योग में समर्थ न होने पर भी मेरे लिए श्रवण कीर्तन पूजा जपादि भागवत धर्मरूप कर्मों को करने पर (तथा मुझमें उन कर्मों का अर्पण करने पर) **सिद्धिम् अवाप्स्यसि**—पहले सत्त्वशुद्धि (अन्तःकरण की शुद्धि) एवं उसके पश्चात् ज्ञान की उत्पत्ति होने पर ब्रह्मभावरूपा परमसिद्धि (मोक्ष) प्राप्त कर लोगे अर्थात् ब्रह्मस्वरूप ही हो जाओगे ।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[यदि ऐसा भी न कर सको तो फिर कहते हैं—] **अभ्यासे अपि असमर्थः असि इत्यादि**—यदि उपर्युक्त अभ्यास करने में भी तुम समर्थ न हो तो मेरी प्रसन्नता के लिए जो एकादशी का उपवास, व्रतचर्या, नाम-

संकीर्तन आदि कर्म है उनका अनुष्ठान करने में तत्पर हो जाओ अर्थात् उनका अनुष्ठान ही तुम्हारा परम कर्तव्य है ऐसा समझ लो। इस प्रकार के कर्म भी मेरी प्रसन्नता के के लिए करते हुए तुम सिद्धि अर्थात् मोक्ष को प्राप्त हो जाओगे।

(२) **शंकरानन्द**—[उक्त लक्षण वाले अभ्यासयोग से भी सगुण ब्रह्म की उपासना करने में जो अशक्त है ऐसे अतिमन्द बुद्धिवाले पुरुष के लिए दूसरा साधन कहते हैं—] **अभ्यासे अपि**—अभ्यास में भी (सजातीय प्रत्यय की आवृत्तिरूप अभ्यास में भी) यदि **असमर्थः असि तर्हि मत्कर्मपरमः भव**—यदि असमर्थ (असक्त) हो तो तुम अभ्यास योग का अनुष्ठान न करके मत्कर्मपरम हो [मेरे लिए ही जिसने वैदिक और लौकिक सम्पूर्ण कर्म का अनुष्ठान परम (प्रधान) कर्तव्य रूप से मान लिया किन्तु उस कर्म को तनिक भी वह अपने लिए नहीं करता है, और न तो उस कर्म को छोड़कर ध्यान आदि में लिप्त होता है, उसे 'मत्कर्मपरम' कहते हैं] ऐसा हो जाओ अर्थात् जैसे योद्धा राजा के लिए सब कुछ करता है वैसे ही मेरे लिए सब कर्म करो, यही कहने का तात्पर्य है। इस प्रकार ईश्वर के लिए ही जो पुरुष कर्म करता है, उसके अनुष्ठान का फल अब कहते हैं—**मदर्थम् कर्माणि कुर्वन् अपि सिद्धिम् अवाप्स्यसि**—नियम से और श्रद्धा से मेरे लिए ही सब कर्म करते हुए भी तुम उसके अनुष्ठान से उत्पन्न हुई चित्तशुद्धि से तथा चित्तशुद्धि से उत्पन्न हुए ज्ञान द्वारा सिद्धि को (कैवल्यरूप मोक्ष को) प्राप्त होओगे। इससे यह सूचित होता है कि ईश्वर के उद्देश्य से अज्ञानी के सब कर्मों का आचरण (पूर्व श्लोक में कथित) अभ्यास की अपेक्षा मुक्ति का सुखकर साधन है।

(३) **नारायणी टीका**—[जो लोग पूर्वश्लोक में कहे गये अभ्यासयोग का अनुष्ठान करने में असमर्थ हैं उनके लिए भगवान् की प्राप्ति के उपायरूप से कर्मयोगरूप साधन बतला रहे हैं—] अभ्यासयोग आपाततः सहज प्रतीत होने पर भी जिसकी संसार-प्रपंच में सत्यत्वबुद्धि दृढ़ है उसके लिए अभ्यासयोग का अनुष्ठान बहुत ही कठिन है। पूर्वाभ्यास से ही स्वभाव बनता है एवं जिसका जो स्वभाव है उसका परिवर्तन करना (विवेकी पुरुष के बिना दूसरे के लिए) अत्यन्त कठिन है क्योंकि स्वभाव से ही प्रत्येक व्यक्ति अवश होकर शुभ या अशुभ कर्म में प्रवृत्त होता है। जबतक

साधक अपने-अपने आश्रम धर्म में निष्ठावान् होकर निष्काम भाव से सर्वकर्म भगवान् को अर्पणकर चित्तशुद्धि प्राप्त नहीं कर लेता एवं चित्तशुद्धि के पश्चात् श्रवण मननादि से विश्व-प्रपञ्च के मिथ्यात्व तथा एकमात्र आत्मा का ही सत्यत्व निश्चय नहीं करता तबतक विषय से चित्तवृत्ति को निवृत्त कर भगवान् में समाहित करने के लिए अभ्यास करना असम्भव होता है। इसलिए भगवान् ने अभ्यास-योग में असमर्थ भक्तों को (जो भगवान् को चाहते हैं परन्तु विषयवासना रहने के कारण कर्मों का भी त्याग नहीं कर सकते हैं उनको) 'मत्कर्मपरम' होने के लिए उपदेश दिया। भगवान् की प्रीति के लिए जो पूजा, जप लीला-श्रवण, कीर्तन अथवा आहारादि लौकिक कर्म अनुष्ठित होता है एवं भगवान् में ही जिन कर्मों का समर्पण किया जाता है, उन कर्मों को मत्कर्म (भगवत्कर्म) कहा गया है। वह कर्म ही जिसका परम अर्थात् जीवन की प्रधान लक्ष्य वस्तु है, अतः केवल उसमें ही जो निष्ठावान् होता है, वह मत्कर्मपरम है (मदेकनिष्ठ) है।

इस प्रकार सभी मनुष्यों को लक्ष्य करके अर्जुनको श्रीभगवान् कह रहे हैं कि यदि अभ्यासयोग में असमर्थ हो तो मत्कर्मपरम हो अर्थात् तुम स्वभाववश जो कुछ लौकिक या शास्त्रीय कर्म कर रहे हो वह (क) मैं ही तुमको निमित्त कर रहा हूँ (ख) मेरी तृप्ति के लिए ही इन सब कर्मों का अनुष्ठान हो रहा है एवं (ग) जो कुछ किया जा रहा है उसको मुझे ही अर्पण करना है। इस प्रकार की बुद्धि से मेरे लिए कर्म करते हुए तुम सिद्धि प्राप्त होओगे अर्थात् इस प्रकार के कर्मानुष्ठान से पहले चित्त की शुद्धि होगी एवं उसके पश्चात् गुरुमुख से वेदान्तादि के श्रवण तथा मनन के द्वारा परोक्षज्ञान अर्थात् 'ब्रह्म ही सत्य है एवं मैं वही ब्रह्म हूँ' इस प्रकार ज्ञान प्राप्त होगा एवं उसके बाद निदिध्यासन के द्वारा निर्विकल्प समाधि से मेरा अपरोक्ष अनुभव कर अर्थात् ब्रह्म और आत्मा (मैं) एक ही हूँ इस प्रकार साक्षात् अनुभव कर सिद्धि अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होओगे। श्लोक का सार यह है कि साधारण व्यक्ति अभ्यासयोग का अनुष्ठान करने में असमर्थ होता है क्योंकि उसका स्वभाव बलवान है, एवं स्वभाव का परिवर्तन नहीं होता है क्योंकि जगत् तथा जगत् के कार्य में उसकी सत्यत्व बुद्धि है। एक व्यक्ति को बहुत बोलने का स्वभाव है। जबतक बात करने के विषय में उसकी सत्यत्व बुद्धि तथा आसक्ति है तबतक हजारों युक्तियों से वह बात करने के स्वभाव से निवृत्त नहीं हो सकेगा। तथापि

भगवत्कर्म परम (मत्कर्मपरम) हो सकता है यदि अपने स्वभाव के परिवर्तन करने में असमर्थ होने पर भी भगवान् की प्राप्ति के लिए उसकी पिपासा रहे। बात करते समय अभ्यासवश दूसरे लौकिक कर्म करते समय यदि वह अपने को भगवान् का यंत्र मानकर इस प्रकार सोचे–हे प्रभो ! तुम अन्तर्यामी हो एवं तुम ही कर्म में इस शरीर को प्रेरित कर रहे हो। अज्ञान से मैं अपने को कर्त्ता मानता हूँ परन्तु मैं तो तुम्मारे हाथ में केवल यंत्रमात्र ही हूँ। अतः जो कुछ कह रहा हूँ, सोच रहा हूँ. कर रहा हूँ वे सब तुम्हारे ही लिये हैं एवं इसलिए मैं उनको तुम्हे अर्पित कर रहा हूँ। इस प्रकार उसके लिए सर्व कर्मों में भगवान् ही एकमात्र परमलक्ष्य वस्तु होती है तथा भगवान् के लिए ही उसके सभी कर्मों का अनुष्ठान होने के कारण कर्मों के फल की वासना से निवृत्त होकर चित्त-शुद्धि उत्पन्न होती है एवं तत्पश्चात् वह श्रवण, मनन, निदिध्यासन से तत्त्वज्ञान लाभकर सिद्धि (मोक्ष) प्राप्त हो सकता है। जिसप्रकार मलिन वस्त्र में रंग नहीं लगता है उसी प्रकार कर्म में फल की वासना रहते हुए तत्त्वज्ञान तथा सिद्धि (मोक्ष) प्राप्त होना असम्भव है–यही दृढ़भाव से सूचित करने के लिए भगवान् ने कहा है–'मत्कर्मपरमो भव', 'मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्' इत्यादि।

[जिनके चित्त बाह्य विषयों से अत्यन्त आकृष्ट होने के कारण मत्कर्म-परम होने में समर्थ नहीं होते हैं अतः पूर्व श्लोक में जैसा कहा है उसी प्रकार भगवान् की प्रसन्नता के लिए सर्व कर्म करने में असमर्थ हैं उनको क्या करना है इसको अब कह रहे हैं—]

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

अन्वय—अथ एतद् अपि कर्तुम् अशक्तः असि ततः मद्योगम् आश्रितः यतात्मवान् (सन्) सर्वकर्मफलत्यागं कुरु।

अनुवाद—यदि तुम ऐसा करने में भी असमर्थ हो तो मेरे सर्वकर्म समर्पणरूप योग का आश्रय लेकर तथा आत्मवान् होकर (अर्थात् इन्द्रियों को अपने वश में रखते हुए विवेक सम्पन्न होकर) समस्त कर्मफल का त्याग कर दो।

भाष्यदीपिका—अथ—फिर **एतद् अपि कर्तुम् अशक्तः असि**—पूर्व श्लोक में जैसे कहा है उस प्रकार मत्कर्मपरम (मेरे लिए कर्म करने के परायण) होने में भी यदि असमर्थ हो **ततः**—तो फिर **मद्योगमाश्रितः सन्**—मेरे योग को आश्रयकर किए जानेवाले समस्त कर्मों का मुझमें समर्पण करके उनका अनुष्ठान करना 'मद्योग' है, उसके आश्रित होकर [अथवा एकमात्र मेरी शरणागति का ही आश्रय लेकर (मधुसूदन)] **यतात्मवान् (सन्)**—जिसकी आत्मा (अन्तःकरण) संयत (वशीभूत) हुई है, वह यतात्मवान् या संयतात्मा है, ऐसा होकर [अथवा यत् अर्थात् जिसने सम्पूर्ण इन्द्रियों को संयत कर लिया है, वह 'यत' कहलाता है और जिसने अनात्मवस्तु से आत्मा को विवेक (पृथक्) कर लिया है, इस प्रकार के विवेकी पुरुष को आत्मवान् कहते हैं। अतः जो 'यत' (संयत इन्द्रिय) है और आत्मवान् (विवेकी) भी है वह यतात्मवान् है। इस प्रकार होकर (मधुसूदन)] **सर्वकर्मफलत्यागम् कुरु**—सब कर्मों के फल की कामना का त्याग करो अर्थात् कर्मफल की अभिलाषा को त्याग दो [अथवा सर्वकर्म का फल मुझमें समर्पित करो।]

टिप्पणी—(१) श्रीधर—[यदि कोई भगवद्धर्म में अत्यन्त निष्ठायुक्त होने में असमर्थ होता है तो उनके लिए क्या करना उचित है ? इसको बताते हैं–] **अथ एतद् कर्तुम् अपि अशक्तः असि इत्यादि**–यदि मत्कर्मपरम होने के लिए भी तुम समर्थ नहीं हो तो केवल एकमात्र मेरा शरणग्रहण करना रूप योग को आश्रय करो [अर्थात् मेरा शरणग्रहण करने पर जो मेरे साथ योग (एकत्व) सम्पन्न होता है उस योग को आश्रय करो] तथा आत्मवान् होकर (अर्थात् चित्त को वशीभूत कर) समस्त आवश्यक कर्मों के फल (जो प्रत्यक्ष है) तथा अग्निहोत्रादि कर्मों के सब प्रकार के फलों का परित्याग कर दो। "ईश्वर की आज्ञा के अनुसार मुझे यथाशक्ति कर्म करना चाहिए' फिर उनका दृष्ट अथवा अदृष्ट फल परमेश्वर के अधीन है, इस प्रकार मुझपर भार छोड़कर फल की आसक्ति का त्याग करके सब कर्म करते हुए तुम मेरी कृपा से कृतार्थ हो जाओगे", यही कहने का अभिप्राय है।

(२) शंकरानंद–[पूर्वश्लोक में कहे हुए कर्म के अनुष्ठान में भी जो असमर्थ है ऐसे अत्यन्त मन्दबुद्धिवाले के लिए दूसरा साधन (मुमुक्षु को सर्व प्रकार से मेरी

उपासना ही करनी चाहिए, यह) सूचित करने के लिये कहते हैं–] अथवा यदि तुम उक्त रीति से मेरे लिए ही प्रधानतः कर्म का अनुष्ठान नहीं कर सकते हो तो **यतात्मवान्**–यत (संयत) है आत्मा (चित्त) जिसका अर्थात् काम और संकल्प से विमुख किया गया है चित्त जिसका वह यतात्मवान् अर्थात् नियतचित्त है, ऐसा होकर **मद्योगमाश्रितः**—मेरे योग के आश्रित होकर [इस कर्म से भगवान् प्रसन्न हों, ऐसी बुद्धि से किए जानेवाले सम्पूर्ण कर्मों का मुझ परमेश्वर में समर्पण अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों का संन्यास करते हुए भगवान् के साथ जो योग रहता है, उसके आश्रय करनेवाले को 'मद्योगमाश्रित' कहते हैं, ऐसा होकर] **ततः सर्वकर्मफलत्यागम् कुरु**—तुम तदनन्तर अर्थात् अनुष्ठित सभी कर्म को पूर्णरूप से मुझे अर्पण करने के अनन्तर ही किए गए सम्पूर्ण कर्म का जो फल है उनका त्याग अर्थात् संन्यास करो अर्थात् कर्मों के फलों में कामना का त्याग करो अर्थात् कर्मों को मुझे अर्पण करने पर दूसरे के लिए जो कर्म किए जाते हैं; उनके समान उन कर्मों के फल की कामना का सम्भव न होने के कारण जैसे सम्पूर्ण कर्मों के फलों का परित्याग हो जाता है ऐसे ही कर्मफल से तुम मुक्त हो जाओगे। इससे यह सूचित होता है कि कर्मफलों की कामना का सर्व प्रकार से त्याग कर ईश्वर-अर्पण बुद्धि से शास्त्रविहित कर्म का अनुष्ठान अतिमूढ़ के लिए भी मुक्ति का सुखकर साधन है।

(३) **नारायणी टीका**—पहले अपने-अपने आश्रम धर्म का शास्त्र के विधानानुसार जो लोग निष्कामभाव से अनुष्ठान कर चित्तशुद्धि लाभ किए हैं वे ही ध्यान के द्वारा विश्वरूप सगुणब्रह्म में मनको समाहित कर तत्त्वज्ञान प्राप्त कर संसार से मुक्त हो सकते हैं, यह आठवें श्लोक में कहा गया है। जिनकी चित्तशुद्धि के अभाव के कारण तथा नामरूपात्मक जगत् के मिथ्यात्व निर्णीत न होने के कारण विषय में आसक्ति रहती है परन्तु भगवत् प्राप्ति के लिए वासना भी है, इसप्रकार के व्यक्ति के लिए—

(क) प्रथम भगवान् के किसी विशेषरूप को (रामकृष्ण आदि प्रतिमा को) अवलंबन कर भगवत् ध्यान का अभ्यास करना पड़ता है। इसे ही नवम श्लोक में अभ्यासयोग कहा गया है।

(ख) जो उसप्रकार अभ्यास योग के अनुष्ठान में भी असमर्थ है, उसको भगवद्धर्म का अनुष्ठान करना चाहिए अर्थात् निष्काम भाव से सर्वकर्म भगवान् में

अर्पण करना चाहिए क्योंकि इसप्रकार कर्म से भी सिद्धि (मोक्ष) प्राप्त हो सकती है—यह दसवें श्लोक में स्पष्ट किया गया है।

(ग) यदि इसमें भी असमर्थ हो तब सभी कर्मों का फलत्याग कर अर्थात् चित्त बाह्यविषयों के द्वारा आकृष्ट होने से पूर्वश्लोकोक्त भगवत्कर्मपरम होने में अशक्त हो तो भगवान् कहते हैं कि 'मद्योग' को आश्रय कर अर्थात् मेरे ही शरणागत होकर मेरे साथ सदा ही योग रखकर तथा सर्वेन्द्रियों को संयत करके अर्थात् विषय वासना से निवृत्त करके आत्मवान् विवेकी होकर (अर्थात् आत्मा के अनुसंधान में तत्पर होकर) सर्वकर्मफलत्याग करो। अर्थात् शास्त्रविहित सर्वकर्मानुष्ठान करते हुए सभी कर्मों के फल की वासना का त्याग करो [वेदादि शास्त्र भगवान् की आज्ञा है, उन सब शास्त्रों से विहित कर्मसमूह मेरा यथाशक्ति कर्तव्य है—उन कर्मों का दृष्ट अथवा अदृष्ट फल तो परमेश्वर के अधीन है, इसप्रकार के भाव का आश्रय कर फलासक्ति परित्याग करके कर्म करने से कृतार्थ होआंगे, यही भगवान् के कहने का अभिप्राय है]।

देह में आत्माभिमान, कर्म में कर्तृत्वाभिमान एवं कर्मफल की वासना, ये ही प्राणियों के संसार-बन्धन के कारण हैं। वस्तुतः कर्मफल में आसक्ति ही शुभ तथा अशुभ संस्कार का हेतु है एवं संस्कार ही भविष्यत् जन्म का बीज होता है। पूर्वसंस्कार के वशीभूत होकर सबको ही कर्म करना पड़ता है, इसलिए भगवान स्वयं ही कहेंगे—'न हि कश्चिद् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' अर्थात् कोई प्राणी एक क्षण के लिए भी कर्म नहीं करके रह नहीं सकता है किन्तु यदि कर्म करते हुए कोई कर्मों से आत्मरूप भगवान् के साथ योग प्राप्त होने की इच्छा करता है [अर्थात् भगवान् के कहने के अनुसार "मद्योगमाश्रित" होता है] एवं सर्वकर्म के फल भगवान् में समर्पित कर देता है तो वह सर्वप्रकार से संकल्प-विकल्प से रहित होता है, यदि वह सर्वकर्म के फल का त्याग कर यतात्मवान् होकर [अर्थात् आत्मा को (अन्तःकरण को) यत (संयत) होकर अर्थात् विषय-वासना से उत्पन्न हुए विक्षेप या चंचलता से रहित होकर] करे। मनुष्यका संकल्प अथवा विकल्प (जिस कारण से चित्त की चंचलता उपस्थित होती है), वह अतीत अथवा भविष्यत् के व्यापारों का अवलंबन करके ही होता है। कर्तृत्वाभिमान अर्थात् मैं कर्मों का कर्ता हूँ इस प्रकार का भाव एवं फल की वासना ये दोनों ही

चंचलता के मूल हैं। वर्तमान के लिए कोई संकल्प-विकल्प नहीं कर सकता है क्योंकि संकल्प करने के क्षण में ही 'वर्तमान' अतीत हो जाता है एवं 'भविष्यत्' वर्तमान होता है। मैं यदि अतीत में ऐसा करता तो इसप्रकार परिणाम नहीं हो सकता था अथवा भविष्यत् में मैं ऐसा करूँगा तो इसप्रकार फल प्राप्त करूँगा, इसप्रकार की भावना ही चित्त की चंचलता या विक्षेप उत्पन्न कर मनुष्य का शोक, मोह तथा दुःख का कारण बन जाती है। जब बहुजन्म की सुकृति के फल से भगवान् की प्राप्ति के लिए वासना जाग्रत होती है परन्तु पूर्व संस्कारवश सर्वकर्म का त्यागकर भगवान् में निरंतर स्थिति प्राप्त करने की सामर्थ्य नहीं होती है तब यदि वह मनुष्य कर्म करते हुए—"प्रभो, तुम अन्तर्यामी रूप से जिसप्रकार प्रेरणा दे रहे हो उसी प्रकार यंत्रवत् मैं काम कर रहा हूँ किन्तु जिस प्रकार कठपुतली का नाचने का फलरूप से जो कुछ धन आ जाता है वह नचाने वाले के पास चला जाता है, उसीप्रकार मेरा सर्वकर्मों का फल भी तुम्हें मैं अर्पण कर रहा हूँ। अतीत में जो कुछ मुझसे शुभ अथवा अशुभ कर्म हुआ वे सब तुम्हारी इच्छा से ही हो चुके हैं एवं उनका फल क्या होगा वह भी तुम्हारी इच्छा के अधीन ही है। अतः न तो कर्म करने में और न ही फल भोगने में मेरा कोई अधिकार है और भविष्य में भी जो कुछ मैं करूँगा वह भी तुम्हारी जैसी इच्छा होगी वैसे ही मुझे अवश होकर करना पड़ेगा एवं उनके फल भी तुम्हारे हाथ में ही हैं। अतः मेरा न तो कर्म है और न तो फल में अधिकार है, इन सभी को मैं तुम्हें अर्पण कर रहा हूँ' इसप्रकार की भावना से जो भगवान् के उद्देश्य से सर्वकर्म के फल का त्याग करते हैं उसको उनके लिए (क) मद्योगाश्रित होना मत् (भगवत्) योग का आश्रित होना तथा (ख) यतात्मवान् होना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार मुमुक्षु भक्त अन्य किसी साधन का अवलंबन नहीं करने पर भी वे सर्वसंकल्प विकल्प से मुक्त हो जाते हैं क्योंकि भूत तथा भविष्यत् के लिए उनकी चिंता के विषय कुछ भी नहीं रह सकता है। इस प्रकार सर्वकर्म करते हुए भी जो कर्तृत्व-अभिमान तथा कर्मफल की आकांक्षा से रहित होकर भगवान् के एकान्त शरणागति से चित्त को संकल्प-विकल्प से शून्य कर चित्त की स्थिरता सम्पादन करते हैं, उनके चित्त में तत्त्वज्ञान (सर्वात्मा भगवान् के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान) प्रकट होता है यही मुक्ति है।

गीता के प्रथम षटक् में (प्रथम ६ अध्यायों में भगवान् में अर्पित किए हुए निष्काम कर्मयोग को मोक्ष का परम उपाय कहा गया है। द्वितीय षटक् में भक्तियोग को भगवत् प्राप्ति का उपाय कहा गया। यह भक्तियोग दो प्रकार का है। **(१) भगवन्निष्ठ अन्तः करण का व्यापार**—यह भी फिर तीन प्रकार का होता है (क) शरणात्मक (ख) मननात्मक तथा अभ्यास योग [अर्थात् पूर्णरूप से भगवान् में शरणागत होकर अथवा वेदान्त वाक्यों के श्रवण तथा मनन से आत्मस्वरूप ब्रह्म को जानकर अथवा पुनः पुनः प्रयत्न से सर्वात्मा भगवान में चित्त को निविष्ट (समाहित) रखना] ये तीनों मन्द बुद्धि लोगों के लिए दुर्गम (दुष्कर) होते हैं परन्तु पुण्यात्मा विवेकी व्यक्ति के लिए सुगम हैं।

(२) भगन्निष्ठ बहिरिन्द्रियों के व्यापार—भगवान् में चित्त स्थिर रखने में असर्थ होने पर बहिरिन्द्रियों के द्वारा श्रवण कीर्तनादि करना एवं सर्वकर्म उनमें समर्पण करना यह सभी के लिए सुगम उपाय है। इसलिए प्रथम षटक् में यही प्रतिपादित किया है कि निष्काम कर्मी ईश्वरार्पण बुद्धि से सभी कर्म करते हुए चित्तशुद्धि लाभकर तत्त्वज्ञान (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं। द्वितीय षटक् में भक्तियोग का (भगवान् के नाम कीर्तन, आराधना एवं शरणागति का) प्राधान्य प्रदर्शित हुआ है। भगवत् प्राप्ति के लिए भक्तियोग सरल, सुगम एवं सुखकर है। इसलिए यह प्रकृष्ट उपाय है। यही इस अध्याय में भगवान् के कहने का अभिप्राय है।

[भगवत् प्राप्ति के जितने उपायों का विधान किया गया है वे पूर्व श्लोक में उक्त सर्वकर्मफलत्याग में ही समाप्त होते हैं। अर्थात् सर्वकर्मफल का त्याग करने में जो असमर्थ हैं उनके लिए भगवान् ने और कोई अन्य उपाय नहीं बताया। अतः अब इस सर्वकर्मफलत्याग की ही स्तुति करते हैं—]

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ १२ ॥

अन्वय—अभ्यासात् ज्ञानं श्रेयः हि ज्ञानात् ध्यानं विशिष्यते, ध्यानात् कर्मफलत्यागः, त्यागात् अनन्तरं शान्तिः।

अनुवाद—अभ्यास की अपेक्षा तो ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से ध्यान बढ़कर है और ध्यान की अपेक्षा समस्त कर्म फलों का त्याग श्रेयस्कर है। कर्मफलों का त्याग करने के पश्चात् तुरन्त ही शान्ति (उपशम) प्राप्त होती है। अर्थात् संसार गति से उपशम (मोक्ष) प्राप्त होता है।

भाष्यदीपिका—अभ्यासात्—अभ्यास से [आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए वेदान्त वाक्यादि का श्रवण करने के पश्चात् उनकी बारंबार आवृत्ति को अभ्यास कहते हैं किन्तु जबतक वह अभ्यास "मैं ब्रह्म हूँ" इसप्रकार ज्ञान से रहित होता है तबतक आत्म वस्तु से आत्मतत्त्व का विवेक (पार्थक्य का निर्णय) न होने के कारण वह अभ्यास अविवेकपूर्वक किया जाता है। अतः इस प्रकार अविवेक पूर्वक अर्थात् सम्यक् ज्ञान से रहित अभ्यास की अपेक्षा **ज्ञानम् श्रेयःहि**—ज्ञान निःसन्देह श्रेष्ठतर ही है। ज्ञान शब्द का अर्थ है वेदान्त वाक्य के श्रवण तथा मनन से आत्मस्वरूप का निश्चय। इस प्रकार का ज्ञान विवेकरहित अभ्यास से श्रेष्ठ है] [प्रशस्यतर अर्थात् अधिक प्रशस्त (श्रेष्ठ) है।] 'हि' शब्द निश्चय अर्थ में प्रयुक्त हुआ है अर्थात् ज्ञान अभ्यास से निश्चय ही श्रेष्ठ है इस विषय में किसी प्रकार से सन्देह नहीं है, यह सूचित करने के लिए 'हि' शब्द का प्रयोग हुआ है **ज्ञानात् ध्यानं विशिष्यते**—यह ज्ञान (आत्मस्वरूप का निश्चयात्मक ज्ञान) श्रवण तथा मनन से उत्पन्न होने पर भी इस ज्ञान की अपेक्षा ध्यान अर्थात् निदिध्यासन (ज्ञानयुक्त ध्यान) विशिष्ट (उत्कृष्ट अर्थात् श्रेष्ठ) है क्योंकि इस प्रकार का ध्यान ही आत्मसाक्षात्कार का अव्यवहित (व्यवधानशून्य) कारण है। इस प्रकार ध्यान सब साधनों से श्रेष्ठ है। अब अज्ञानी को उत्साह देने के लिए उस ध्यान से भी क्या श्रेष्ठ है, यह बताते हैं **ध्यानात् कर्मफलत्यागः विशिष्यते**—ज्ञानयुक्त ध्यान से भी कर्म फलत्याग श्रेष्ठ है। [यहाँ 'विशिष्यते' क्रिया का अध्याहार कर अन्वय करना पड़ेगा।] यह कर्म फलत्याग क्यों प्रशस्यतर (श्रेष्ठ) है यह कहते हैं—**त्यागात्**—इस प्रकार पहले बतलाये हुइ विशेषणों से युक्त कर्म फलत्याग से [अर्थात् ८वें श्लोक में उक्त संयतचित्त वाले पुरुष के द्वारा ईश्वर अर्पणबुद्धि से किए हुए सम्पूर्ण कर्मो के फलों के त्याग से (त्याग के पश्चात्) **अनन्तरं शान्तिः**—बिना व्यवधान के (समय के व्यवधान की अपेक्षा न कर) अर्थात् तत्क्षणात् (तुरन्त ही) शान्ति हो जाती

है अर्थात् कारण सहित समस्त संसार की निवृत्ति तत्काल ही हो जाती है—कालान्तर की अपेक्षा नहीं रहती है। [श्रुति भी कहती है 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।' अर्थात् जिस समय जीव के हृदय में स्थित सभी कामनायें निवृत्त हो जाती है वह मरणधमी जीव अमर हो जाता है तथा इस लोक में ही उसे ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार श्रुतियों में तथा 'प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्' इति अर्थात् जिस समय यह समस्त कामनाओं को त्याग देता है। (गीता २।५५) इत्यादि स्थितप्रज्ञ के लक्षणों में सर्व काम का त्याग ही अमृतत्व (मोक्ष) की प्राप्ति का साधन है, यह ज्ञात होता है। कर्मफल ही काम है। अतः उनके त्याग की भी काम-त्यागत्व में समानता होने के कारण कामत्याग के फल की स्तुति की जाती है। जिस प्रकार अगस्त्य ब्राह्मण ने समुद्र को पी लिया था तथा परशुराम ब्राह्मण ने पृथ्वी को क्षत्रियों से रहित कर दिया था, इसलिए ब्राह्मणत्व में समानता होने के कारण आजकल के ब्राह्मणों की भी असीम पराक्रमता बताकर स्तुति की जाती है, उसी प्रकार यहाँ कर्म-फलत्याग की भी स्तुति की गई है (मधुसूदन)।]

कर्म में लगे हुए अज्ञानी के लिए पूर्वोक्त उपायों का अनुष्ठान होने पर ही सर्व कर्मों के फल त्यागरूप कल्याण के साधन का उपदेश किया गया है, सबसे पहले नहीं। [अर्थात् सर्वकर्म फलत्याग की श्रेष्ठता मुख्य रूप से प्रतिपादित नहीं की गई है, किन्तु केवल गौणरूप से की गई है] इसलिए 'श्रेयः हि ज्ञानमभ्यासात्' इत्यादि से साधनों की उत्तरोत्तर श्रेष्ठता बतलाकर सर्व कर्मों के फलत्याग की स्तुति की गई है क्योंकि उत्तम साधनों का अनुष्ठान करने में असमर्थ होने पर यह साधन भी अनुष्ठान करने योग्य माना गया है।

प्रश्न—कौन सी समानता के कारण कर्मफलत्याग की स्तुति की गई है ? 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते' (कठो. उ. ६।१४) अर्थात् जब इसके हृदय में स्थित सब कामनायें नष्ट हो जाती हैं इस श्रुति से समस्त कामनाओं के नाश से अमृतत्व की प्राप्ति होती है, यह बतलाया गया है एवं यह प्रसिद्ध भी है। पहले ही कहा जा चुका है कि समस्त श्रौत स्मार्तकर्मों के फलों का नाम काम है। उनके त्याग से ज्ञाननिष्ठ विद्वान् तुरन्त ही शान्ति प्राप्त करते हैं। अज्ञानी के कर्मफलत्याग में भी कामनाओं का त्याग है ही, अतः

इन सब कामनाओं के त्याग की समानता का कारण रुचि उत्पन्न करने के लिए यहाँ सर्वकर्मफलत्याग की स्तुति की गयी है। इस प्रकार कर्मफलत्याग से कर्मयोग की कल्याण-साधनता (मोक्ष के साधन को योग्यता) बतलायी गई है।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—[पूर्वश्लोक में जो कर्मफलत्याग के सम्बन्ध में कहा है, इस फलत्याग की स्तुति करते हैं-] **श्रेयः हि ज्ञानमभ्यासात् इत्यादि**—सम्यक्ज्ञान से रहित अभ्यास की अपेक्षा युक्तिसहित उपदेश से उत्पन्न हुआ ज्ञान श्रेष्ठ है। उसकी अपेक्षा ज्ञानपूर्वक ध्यान श्रेष्ठ है। 'ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः' (मु. उ. ३।१।८) अर्थात् साधक विशुद्ध अन्तःकरण के द्वारा ध्यान करता हुआ उस अवयवरहित परमात्मा को देखता है। इस प्रकार श्रुति से ध्यान की श्रेष्ठता सिद्ध होती है। **ध्यानात् कर्मफलस्त्यागः इत्यादि**—किन्तु जो कर्मफल के त्याग का लक्षण उपर कहा गया है वह उक्त ध्यान से भी श्रेष्ठ है। क्योंकि उस कर्मफल के त्याग से कर्म में और उनके फलों में आसक्ति की निवृत्ति (नाश) हो जाने पर मेरी कृपा से ही तुरन्त (तत्काल ही) संसार की शान्ति हो जाती है अर्थात् संसार का उपराम होने के पश्चात् परमशान्ति प्राप्त होती है।

(२) शंकरानन्द—इस प्रकार यतात्मवान् होकर (संयतचित्त होकर) तुम सम्पूर्ण कर्म के फलों का त्याग करो, ऐसा उपदेश कर सर्वकर्मफल त्याग में ही मूढ़ मुमुक्षु की प्रवृत्ति हो, इस अभिप्राय से उसमें मुमुक्षु की रुचि को उत्पन्न करने के लिए सम्पूर्ण कर्मफलों का त्याग ही मोक्ष के समस्त साधनों से उत्तम साधन है, इस प्रकार उसकी स्तुति करते हैं। **अभ्यासात् ज्ञानम् श्रेयः हि**—मुमुक्षु के लिए अभ्यास (सर्वत्यागपूर्वक यम नियम आदि परिश्रम से चित्तशुद्धि होने पर श्रवण मननादि के अभ्यास से) ज्ञान (अर्थात् श्रवण और मनन सहित श्रुति तथा युक्ति से उत्पन्न हुआ ब्रह्म तथा आत्मा का एकत्व बोधरूपी ज्ञान) श्रेय है अर्थात् मोक्ष का श्रेष्ठतर साधन है, यह सूचित करने के लिए 'हि' शब्द है **ज्ञानात् ध्यानम् विशिष्यते**—ज्ञान से (प्रतिबन्ध विशिष्ट ज्ञान से) प्रतिबन्धक की निवृत्ति का कारण ध्यान (सजातीय प्रत्यय की आवृत्ति रूप ध्यान) श्रेष्ठ है अर्थात् जन्मादि के हेतु अविद्या, काम, संकल्प आदि प्रतिबन्धों का निवर्त्तक होने के कारण ध्यान श्रेष्ठतर साधन है। **ध्यानात्**

कर्मफलत्यागः—उक्त लक्षणविशिष्ट ध्यान से कर्मफल का त्याग श्रेष्ठ है। मन की निश्चलता (स्थिरता) अतिदुर्लभ है क्योंकि विपरीत (विरोधी) प्रत्ययों (वृत्तियों) का निवारण करना अति कठिन है। अतः जो ध्यान केवल नित्य निरन्तर प्रयत्न से ही साध्य है अर्थात् सम्पन्न हो सकता है। वह ध्यान अत्यन्त क्लेश से ही होता है। किन्तु यथाशक्ति किये गये कर्मों के फल का त्याग करने में उक्तप्रकार के कठोर श्रम का प्रयोजन नहीं होता है अतः मोक्ष के प्रति अन्तरंग साधन होने के कारण ध्यान की अपेक्षा कर्मों का फलत्याग श्रेष्ठतर साधन है। यद्यपि कामना का अभाव ध्यान और कर्म फलत्याग इन दोनों में समान है तथापि ध्यान के लिए जिस श्रम की आवश्यकता पड़ती है कर्म फलत्याग में वह श्रम न रहने के कारण त्याग ध्यान से श्रेष्ठतर है।

त्यागात् शान्तिः अनन्तरम्—सर्व कर्म फलत्याग करने के अनन्तर (परवर्ती क्षण में ही) उक्त कर्म फलत्याग करने वाले (सम्पूर्ण कर्मफलों के त्यागी) अर्थात् नियत चित्त तथा कामसंकल्पादि दोषों से रहित, शुद्धबुद्धि से युक्त कर्मयोगी संसार से शान्ति अर्थात् उपशमरूप मोक्षप्राप्त कर लेते हैं।

प्रश्न—यदि कर्मफल के त्याग से ही मोक्ष की सिद्धि हो सकती है तो 'तरति शोकमात्मवित्' (आत्मवित् शोक को तरता है), 'तमेव विद्वानमृतो भवति' (उन परमात्मा को इस प्रकार जानने वाला ही मुक्त होता है), 'नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय' (मोक्ष के लिए ज्ञान से अन्य दूसरा पथ नहीं है), इत्यादि अनेक श्रुतियों से बहुत विरोध हो जायगा तथा 'ज्ञानात् मुक्तिः' अर्थात् ज्ञान से ही मुक्ति होती है, शास्त्रज्ञ पण्डितों के इस सिद्धान्त से भी विरोध हो जायगा। उत्तर इस प्रकार की शंका युक्त नहीं है क्योंकि 'त्यागात् शान्तिरनन्तरम्' यह वाक्य कर्म फलत्याग की केवल स्तुति करता है और स्तुति प्रवृत्ति में केवल रुचि उत्पन्न करने के लिए होती है। 'अथ चित्तं समाधातुम्' इत्यादि श्लोक से लेकर जो ईश्वर के अभ्यास एवं ईश्वर के उद्देश्य से कर्तव्य कर्मों का अनुष्ठान करने में असमर्थ हैं, ऐसे अत्यन्त मंदबुद्धि वाले मुमुक्षु के लिए चित्तशुद्धि के साधन रूप से कर्म फलत्याग का विधान है। यदि वही मुख्य साधन होता तो भगवान् उसको सर्वप्रथम निर्देश करते। ऐसी परिस्थिति में 'मत्कर्मकृत् मत्परमः' इत्यादि से जो पाँच साधन बताये है वे व्यर्थ होते तथा 'आत्मा वा रे द्रष्टव्यः' अर्थात् आत्मा का

ही अपरोक्ष साक्षात्कार करना चाहिए, इससे आत्मसाक्षात्कार के लिए श्रवणादि की जो विधि है वह भी निरर्थक होती। इसलिए यहाँ कर्म फलत्याग की केवल स्तुति की गई है। सभी (कर्म ब्रह्म में समर्पित होने पर पुनः उनमें–उन कर्मों में तथा उनके फलों में संकल्प और काम की सम्भावना नहीं होती है। काम और संकल्परहित होने को ही चित्तशुद्धि कहते हैं और चित्तशुद्धि होने पर एक बार के उपदेश से ही ज्ञान होता है। ज्ञान से मोक्ष सिद्ध होता है। मोक्ष सिद्धि के लिए इस प्रकार का उपाय (साधन का क्रम) होने के कारण मूढ़तम पुरुषको जो कर्मों से उनकी स्वार्थसिद्धि अर्थात् मोक्षसिद्धि हो सकती है उन कर्मों में प्रवृत्त करने के लिए कर्म फलत्याग की यहाँ स्तुति की गई है। अतः यहाँ न तो श्रुति के साथ विरोध है और न तो आत्मज्ञान के सिद्धान्त के साथ। अथवा 'मयि एव मनः आधत्स्व' (मुझ में ही मन लगाओ) वहाँ से लेकर 'सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्' (संयत-चित्त होकर सम्पूर्ण कर्मफलों का त्याग करो) यहाँ तक मुमुक्षुओं की चित्तशुद्धि के प्रधान कारण (श्रेष्ठ उपाय) अधिकारियों के भेद के अनुसार कठिन और साधारण सगुण उपासना का कर्त्तव्य रूप से प्रतिपादन कर अब परिशुद्ध बुद्धि वाले मनुष्य के लिए उक्त सगुण उपासना की फलभूत निर्गुण अक्षर ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिए ऐसा सूचित कर उस निर्गुण उपासना का साधन श्रवणादि का उत्तरोत्तर उत्कृष्टत्व प्रतिपादन करते हैं। शुद्धिचित्त मुमुक्षु के लिए तो अभ्यास (श्रवणादि का अभ्यास) सगुण सब उपासनाओं की अपेक्षा श्रेय (श्रेष्ठ) है क्योंकि श्रुति ने कहा है 'ज्ञानात् एव तु कैवल्यम्' (ज्ञान से ही कैवल्य अर्थात् मोक्ष होता है) इस वाक्य में 'तु' शब्द के द्वारा ज्ञान के बिना अन्य कोई साधन साक्षात् मोक्ष का कारण नहीं है, ऐसा निश्चय किया है ज्ञान की सिद्धि में सर्वोत्तम कारण है श्रवणादि। अतः ज्ञान के हेतु श्रवणादि यदि न हो तो पूर्वोक्त सगुण उपासनाएँ निष्फल ही होंगी। इसलिए श्रवणादि का अभ्यास उक्त उपासनाओं की अपेक्षा श्रेष्ठ है। 'श्रेय' शब्द से यही समझाया गया कि जो शुद्ध चित्त पुरुष केवल एक मोक्ष की ही कामना करते हैं उनको सर्वकर्म संन्यास पूर्वक श्रवणादि के अभ्यास का अनुष्ठान करना चाहिए। 'आत्मा का अरे द्रष्टव्यः' (हे मैत्री ! आत्मा का ही साक्षात्कार करना चाहिए) 'सोऽन्वेष्टव्यः' (वही खोजने योग्य है 'संन्यस्य श्रवणं कुर्यात्' (संन्यास

ग्रहण कर श्रवण करो) इत्यादि श्रुति और स्मृति के प्रसिद्ध वचन हैं, यह सूचित करने के लिए 'हि' शब्द का प्रयोग हुआ है। **अभ्यासात् ज्ञानम् श्रेयः**—श्रवणादि के अभ्यास से ज्ञान (अभ्यास से उत्पन्न हुआ ब्रह्म तथा आत्मा का एकत्व बोधरूप ज्ञान) श्रेय अर्थात् श्रेष्ठतर है क्योंकि यदि अभ्यास से ज्ञान उत्पन्न नहीं हो तब अभ्यास निष्फल होता है। अतः केवल अभ्यास की अपेक्षा ज्ञान का श्रेष्ठतर होना युक्त है। यहाँ भी 'श्रेय' कहने से अनेक ब्रह्मविदों के पास जाकर अनेक बार श्रवण द्वारा पुरुष का ज्ञान अवश्य सम्पादन करना चाहिए, ऐसा समझाया गया है **ज्ञानात् ध्यानम् विशिष्यते**—ज्ञान यदि प्रतिबन्ध युक्त हो अर्थात् किसी प्रकार प्रतिबन्ध (बाधा) के कारण बारंबार खण्डित होता है अर्थात् निरन्तर ज्ञान का प्रवाह नहीं रहता है तो उसकी निवृत्ति का कारण (सजातीय प्रत्ययों की आवृत्ति रूप ध्यान) उस ज्ञान से श्रेष्ठ है। श्रुति ने कहा 'ततस्तु तं पश्यति निष्फलं ध्यायमानः' (तदनन्तर ध्यान करने वाला उस निष्कलं को देखता है)। अतः इस श्रुति-वाक्य के अनुसार प्रतिबन्ध रहित ज्ञान (परोक्ष ज्ञान) ब्रह्म साक्षात्कार का हेतु होने पर भी उस ज्ञान की अपेक्षा ध्यान का श्रेष्ठ होना युक्त है। [क्योंकि ध्यान परिपक्व होने से ही अपरोक्ष साक्षात्कार होता है।] **ध्यानात् कर्मफलत्यागः (श्रेयः)**—ध्यान की अपेक्षा कर्म फलत्याग श्रेष्ठ है। चैतन्य स्वरूप आत्मा में अज्ञान के कारण वृत्ति उत्पन्न होती है। वृत्ति से वासना उत्पन्न होती है। वासना से कर्म होते हैं और कर्म के फल स्वरूप स्वप्न दृश्यवत् विश्वप्रपञ्च के सब दृश्य दिखाई पड़ते हैं। अतः दृश्यरूप में जो कुछ भासता है वह कर्म के फल ही है। उसका त्याग अर्थात् नित्य निरंतर निर्विकल्प समाधि निष्ठा से दृश्यवस्तु का अदर्शन अर्थात् बाहर भीतर सर्वत्र सर्व प्रकार से एकमात्र ब्रह्ममात्र के अनुभव से नामरूपात्मक दृश्यों का अदर्शन को ही कर्म फलत्याग कहा जाता है। इस प्रकार कर्म फलत्याग विशिष्ट अर्थात् श्रेष्ठ है। 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्' (जहाँ उसका सब आत्मा ही हुआ) इस श्रुति के अनुसार सम्पूर्ण विशेषों के अर्थात् विश्वप्रपञ्चों के अभाव होने के कारण कर्म फलत्याग का त्रिपुटी वाले ध्यान की अपेक्षा (जो ध्यान में ध्याता, ध्यान तथा ध्येय इन त्रिपुटी का बोध रहता है उस प्रकार के ध्यान की अपेक्षा श्रेष्ठ होना युक्त ही है। **त्यागात् शान्तिरनन्तरम्**—सर्वकर्म फल के त्याग से निर्विकल्प समाधि वाले अतएव जिसकी विपरीत

(अज्ञानजनित वासना रूप ग्रन्थियाँ निःशेष विनष्ट हो गई है ऐसे विद्वान को अनन्तर ही अर्थात् देहपात के पश्चात् ही (मृत्यु के बाद ही) शान्ति (संसार का आत्यन्तिक उपशम) अर्थात् ब्रह्मस्वरूप में स्थितिरूप विदेह–कैवल्य (मोक्ष) प्राप्त होता है। दोनों स्थानों में 'विशिष्यते' ऐसा कहने से जो लोग केवल मोक्ष की ही कामना करते हैं उनको ज्ञान के अप्रतिबद्धत्व की [जिससे ज्ञान का प्रवाह किसी प्रकार से रुद्ध न हो (रुक न जाय उसकी)] सिद्धि के लिए सविकल्प तथा निर्विकल्प समाधि अवश्य करनी चाहिए, ऐसा सूचित हो रहा है।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्व श्लोकों में जो कुछ कहा गया है उसका तात्पर्य यह है कि उपासना ५ प्रकार की है—

(१) **अक्षर अव्यक्त अर्थात् निर्गुण ब्रह्म की उपासना**–यहाँ उपासना शब्द का अर्थ है स्थिति अर्थात् निर्गुण निःसंग निर्विकार एक अखण्ड अद्वैत सत्ता में स्थिति ही निर्गुण उपासना है। सम्पूर्ण भाव से समस्त विषयों में आसक्तिहीन होकर जबतक सारे भोग की वासना का त्याग नहीं होता है, तबतक मैं (आत्मा) निःसंग हूँ इसप्रकार की भावना करके आत्मभाव में स्थिति कभी सम्भव नहीं होती है।

(क) जबतक देह में आत्मबुद्धि रहती है अर्थात् जबतक अपने को देह से, जगत् से तथा भीतर के संस्कारों से अपने को आत्मा से पृथकत्व नहीं जानता है।

(ख) जबतक जगत् का मिथ्यात्व निश्चय कर सर्व विषयों से इन्द्रिय तथा मन, बुद्धि आदि को निवृत्त न कर सके तबतक शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा में अर्थात् नित्य, सत्य, निर्गुणब्रह्म में स्थिति लाभ करना असम्भव है। निर्गुण ब्रह्म में स्थिति लाभ करना ही जीवन की परमलक्ष्य वस्तु है, अतः निर्गुण उपासना ही सर्वश्रेष्ठ उपासना है क्योंकि यह अन्य सब साधनों की चरमावस्था है। किन्तु जबतक भगवद्भक्ति व पूर्ण वैराग्य से तत्त्वज्ञान का पूर्ण अधिकारी नहीं होता है, तबतक निर्गुण उपासना देहाभिमानी पुरुष के लिए क्लेशकर होती है।

(२) **सगुण ब्रह्म की उपासना**—जिसको जगत् का मिथ्यात्व पूर्णतया निश्चय नहीं हुआ है परन्तु संसार में दुःख बोध होने के कारण पूर्ण शान्ति लाभ करने के

लिए जो सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् को प्राप्त करना चाहता है, इसप्रकार 'न अतिसक्त (अत्यासक्त) और न अति विरक्त' मुमुक्षु के लिए सगुण ब्रह्म की उपासना अनुकूल होती है। किन्तु विषयों से पूर्णरूप से विरक्त न होने पर तथा देहादि से विलक्षण आत्मा के तत्त्व को श्रवणादि से न जानने पर निर्गुण उपासना का अधिकारी नहीं होता है। निर्गुण ब्रह्म के उपासक 'नेति नेति' कहकर अर्थात् सर्वविश्व के नामरूप तथा क्रिया इन्द्र-जाल के समान केवल प्रतीत मात्र होते हैं परन्तु इनका अस्तित्व त्रिकाल में है ही नहीं, ऐसा निश्चयकर अधिष्ठानस्वरूप पूर्ण ब्रह्म को ही सर्वत्र स्वीकार करते हैं एवं उनका ही सर्वत्र दर्शन करते हैं। अतः निर्गुण ब्रह्म उपासकों से सगुणब्रह्म के उपासक विलक्षण होते हैं क्योंकि वे सगुण ब्रह्म के उपासक नामरूप को अस्वीकार नहीं करते हैं—वे तो सर्व नाम रूप भगवान् के ही है इसप्रकार निश्चय कर उपासना करते हैं। बाहर और भीतर (अपने में तथा विश्व में) वह भी एकमात्र ब्रह्म का ही अनुभव करने के कारण अन्त में जब उसका चित्त ब्रह्म में स्थिर हो जाता है तब सर्वप्रकार से कल्पनारहित होने के कारण सगुण तत्त्व अर्थात् भगवान् का विशेष नामरूप का भी लय हो जाता है। तब वह निर्गुण सत्ता में एक होकर "मैं ही वह हूँ" इसप्रकार तत्त्वज्ञानलाभ करता है। अतः सगुण ब्रह्म की उपासना निर्गुण तत्त्व में पहुँचने के लिए एक श्रेष्ठ साधन है। इसप्रकार सगुण ब्रह्म की उपासना उत्तमाधिकारी के लिये भगवान् के विश्वरूप का अवलंबन करके होती है। परन्तु अन्त में जब उसरूप (मूर्ति) में चित्तवृत्ति का निरोध हो जाता है तब सगुणमूर्ति का लय होकर निर्गुण यथार्थ सत्ता का (आत्मस्वरूप का) साक्षात्कार होता है। इसे ही तत्त्वज्ञान या परमार्थ दर्शन कहते हैं। इससे ही मोक्ष प्राप्त होता है।

(३) **अभ्यासयोग से सगुणब्रह्म की उपासना**—जो लोग भगवान् के विश्वरूप की उपासना नहीं कर सकते हैं अर्थात् भगवान् की सर्वव्यापी सत्ता ही सर्व-रूप में प्रतीत हो रही है, इसप्रकार धारणाकर उसमें (कर्तृत्वाभिमान) तथा विषया-सक्ति से उत्पन्न हुई मन की चंचलता के कारण) चित्त को स्थिर नहीं कर सकते हैं. उनके लिए राम, कृष्णादि कोई विशेष सीमित मूर्ति का अवलंबन कर वही जगत् की सृष्टि-स्थिति के कर्ता है, वही सर्वज्ञ सर्वेश्वर हैं तथा विश्व उसकी ही महिमा है, इसप्रकार की धारणा का अभ्यास करते हुए अपने कर्तव्य कर्म का अनुष्ठान करते हैं एवं उस

अभ्यास से अर्थात् निरन्तर स्मरण से पुनः पुनः भगवान् के साथ योग रखते हैं उनको अभ्यास-योगी कहा जाता है। इसप्रकार अभ्यासयोग से क्रमशः विश्वरूप का ध्यान करने की एवं तत्पश्चात् निर्गुण ब्रह्म के तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करने की सामर्थ्य होती है।

(४) मत्कर्मपरम होने की उपासना—जो उक्तप्रकार का अभ्यास करने में भी समर्थ नहीं है वे यदि सगुणब्रह्म अथवा अवतार की लीला श्रवण करते हुए भगवान् के प्रति श्रद्धा एवं भक्तिपूर्वक सर्वकर्म का [श्रवण, कीर्तन, वन्दन इत्यादि से आत्म-निवेदन तक जो नवधाभक्ति शास्त्र में वर्णित है उसके अनुसार सर्वकर्म का] अनुष्ठान करते हुए सबकुछ भगवान् में निवेदन करे एवं उसप्रकार कर्म करना ही यदि जीवन का लक्ष्य हो तो वे भगवत्कर्मपरम हो जाते हैं एवं क्रमशः चित्तशुद्धिलाभ कर भगवान् की निर्गुण सत्ता के साक्षात्कार द्वारा परमपद (मोक्ष) लाभ कर सकते हैं।

(५) मद्योग के आश्रित होकर उपासना—जिसकी बुद्धि नाना प्रकार के कर्तव्य कर्मों में लिप्त है अर्थात् (पुत्र कन्या का पालन सभा-समिति में योगदान करना, रोगी की सेवा, नाना शास्त्रों का विद्या अर्जन करना इत्यादि कर्मों को अपना कर्तव्य समझकर भगवान् की प्रीति के लिए ही इन सब कर्मों को मैं कर रहा हूँ एवं भगवान् में ही उनको निवेदन कर रहा हूँ, इसप्रकार की बुद्धि से संयत-चित्त होकर कर्म में कर्तृत्वा-भिमान रखते हुए भी सब कर्मों का फल भगवान् में अर्पण करे तो वह भी इसप्रकार के कर्मफलत्याग से भगवान् के साथ योग का सम्पादन कर सकता है। इसलिए इसको कर्मफलत्यागरूपी योग कहा जाता है।

इन पाँच प्रकार की उपासनाओं में कर्मफलत्याग से सर्वकर्म एवं कर्मों में कर्तृत्वाभिमान का अंत मे त्याग हो जाता है। अतः इस प्रकार का कर्मफलत्यागी क्रमशः भगवत्परायण हो जाता है अर्थात् भगवान् के लिए कर्म करना ही उनके जीवन का लक्ष्य होता है। यह कर्मफल त्याग से उत्कृष्ट साधन है। इसलिये भगवान् ने कहा है 'मत्कर्मपरमः भव' क्योंकि उससे भगवान् में स्थिर भाव से चित्त को समाहित करना सहज होता है। किन्तु दृढ़ अभ्यास के बिना समाधि सम्भव नहीं है इसलिये जो भगवान् को प्राप्त करने के लिए निरन्तर अभ्यास करता है वह उक्त प्रकार के कर्मयोगी से श्रेष्ठ है फिर उस प्रकार के अभ्यास योगी से भी जो ध्याननिष्ठ योगी भगवान् में (सगुग

ब्रह्म में) मन और बुद्धि को समाहित कर स्थिति लाभ करता है वह सर्वश्रेष्ठ है। परन्तु अब भगवान् कहते हैं कि अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है और ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यान से कर्मफलत्याग श्रेष्ठ है और कर्मफलत्याग से परमशान्ति अर्थात् मोक्षपद मिलता है। अतः आठवें श्लोक से ग्यारहवें श्लोक तक भगवान् ने जो कहा है उससे बारहवें श्लोक में भगवान् की उक्ति सर्वप्रकार से विरुद्ध है, ऐसा प्रतीत होता है। इसका तात्पर्य क्या है ?

उत्तर—यहाँ अभ्यास शब्द और नौवें श्लोक में जो अभ्यास योग कहा है वे दोनों एक अर्थ बोधक नहीं है। कोई व्यक्ति उपास्य के स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ भी न जानकर अथवा उपास्य के साथ उसका क्या सम्बन्ध है, स्वयं भी क्या चाहता है एवं उस उपास्यमूर्ति से उसका प्रयोजन किस प्रकार से सिद्ध हो सकता है इत्यादि कुछ भी न जानकर किसी व्यक्ति से जप, पूजा इत्यादि सीखकर यदि अविवेकपूर्वक जप पूजादि कर्मों का अनुष्ठान करता रहे तो इसप्रकार के अभ्यास से ज्ञान अर्थात् उपास्य के स्वरूपसम्बन्ध में परिचय तथा उपास्य-उपासक के क्या सम्बन्ध है तथा जप पूजा इत्यादि किस प्रकार करने से उपास्य का साक्षात्कार (उनके स्वरूप का अनुभव) हो सकता है, इस प्रकार ज्ञान श्रेष्ठ है। यही बारहवें श्लोक में भगवान् के कहने का अभिप्राय है। किन्तु नौवें श्लोक में जो अभ्यास योग कहा वहाँ उसका अर्थ यह है कि निरन्तर सर्वकर्मों से तथा सर्वदा भगवान् का स्मरण कर उनको प्राप्त करने के लिए जो पुनः पुनः प्रयत्न है [अर्थात् विवेक पूर्वक तथा परोक्षज्ञान पूर्वक भगवान् में स्थिति के लिए (भगवान् के साथ सर्वदा योग प्राप्त करने के लिए) जो पुनः पुनः प्रयत्न है] उसको अभ्यास योग शब्द से सूचित किया है। अतः केवल अविवेक पूर्वक अभ्यास तथा अभ्यास योग में बहुत अन्तर है। और यहाँ ज्ञान शब्द से भी तत्त्वज्ञान या अपरोक्ष अनुभूति को सूचित नहीं किया गया है परन्तु गुरुमुख से शास्त्रार्थ श्रवण तथा युक्ति (मनन) से जो परोक्ष ज्ञान होता है उसे यहाँ ज्ञान शब्द से अभिहित किया गया है। केवल श्रवण मनन से जो परोक्षज्ञान होता है उससे ध्यान अवश्य ही श्रेष्ठ है अर्थात् भगवान् की (सगुण ब्रह्म का) उपास्य मूर्ति के सम्बन्ध में शास्त्र तथा गुरुमुख से सुनकर धारणा) होती हैं उसमें यदि चित्तवृत्ति का प्रवाह चलता रहता है तब धारणा परिपक्व होकर ध्यान में परिणत होता है तो इस प्रकार ध्यान परोक्ष ज्ञान से श्रेष्ठ है।

किन्तु जब तक चित्त शुद्धि के अभाव से जगत् के सम्बन्ध में मिथ्यात्व निश्चय नहीं होता है अर्थात् (क) कर्तृत्वाभिमान (ख) कर्म में आसक्ति एवं (ग) कर्मफल की स्पृहा रहती है तब तक ध्यान परिपक्व होकर समाधि में परिणत नहीं हो सकता है। फिर समाधि (निर्विकल्प समाधि) के बिना आत्मसाक्षात्कार (तत्त्वज्ञान) नहीं हो सकता है एवं तत्त्वज्ञान के अभाव के कारण मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती है कर्मफलकी वासना विना कर्म का अनुष्ठान असम्भव है लोक में जितना कर्म होता है उसका मूल काम या वासना है अर्थात् वासना (फल की आशा) से प्रेरित होकर ही सब व्यक्ति कर्म करते हैं एवं जब तक वासना रहती है तब तक मन का संकल्प-विकल्प भी चलता है अर्थात् मन स्थिरता प्राप्त नहीं हो सकता है अतः इस अवस्था में ध्यान की परिपक्वता भी सम्भव नहीं है। पूर्व संस्कार से प्रेरित होकर अज्ञानी (अविवेकी) व्यक्ति एक क्षण भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। इसलिए गीता में कहा गया है 'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' (गीता ३।५)। यदि कोई मुमुक्षु पूर्व संस्कार के वशीभूत होकर कर्म करे किन्तु सभी कर्मों का फल भगवान् में अर्पण करे तो वह मुमुक्षु भक्त चित्तशुद्धि लाभ कर अतिशीघ्र भगवद्ध्याननिष्ठ होकर तत्त्वज्ञान लाभ कर सकता है क्योंकि फल की वासना का त्याग होने पर ही चित्तकी चंचलता नष्ट होती है एवं संकल्प विकल्प से रहित होकर चित्त भगवान् में समाहित हो सकता है। अतः जिसकी चित्तशुद्धि नहीं हुई है उनके लिए कर्म फलत्याग ध्यान से भी श्रेष्ठ है, इस प्रकार कहना युक्त ही है। इसलिए आठवें से ग्यारहवें श्लोकों में भगवान ने जो कहा है वे विवेकी साधक के मोक्ष प्राप्ति के साधन (उपाय) हैं और बारहवें श्लोक में जो कहा है वह अविवेकी, अज्ञ तथा कर्म में आसक्त पुरुषकी चित्तशुद्धि का उपाय है।

वस्तुतः सब कर्म का फल त्याग उसी अवस्था में पूर्णतया सिद्ध हो सकता है अर्थात् विना प्रयत्न से वह स्वतः ही सिद्ध होता है जब सर्वत्र एकमात्र आत्मा का ही दर्शन होता रहता है क्योंकि उस समय कर्म, कर्ता, तथा फल सब एक हो जाता है तथापि दासभाव से कर्म फल त्याग करते हुए सारे कर्मों का अनुष्ठान करने पर चित्त शुद्धि तथा अन्य उच्चतर साधन का अधिकार प्राप्त हो जाता है। इसलिए परमार्थ ज्ञान (ब्रह्मस्वरूपता) प्राप्त करने के लिए यह प्रथम सोपान है अर्थात् समस्त साधनाओं का

यह सबसे निम्न स्तर है। यह बात नहीं भूलना चाहिए कि मुक्त पुरुष का जो लक्षण है वही मुमुक्षु के लिए साधन है। इसलिए मुमुक्षु को साधन में प्रवृत्त करने के लिए सर्व कर्मफल त्याग को सर्वश्रेष्ठ साधन कहकर भगवान् फलत्याग की स्तुति कर रहे हैं अर्थात् यह चरम सिद्धान्त नहीं है किन्तु स्तुतिवाद है। दासभाव से भगवान् में कर्म तथा कर्मफल का समर्पण करते हुए कर्म का अनुष्ठान करने पर अर्थात् ग्यारहवें श्लोक में कहे हुए 'मद्योगमाश्रित' होकर सर्व कर्म फल का त्याग करने से भगवान् का स्मरण ही मुख्य तथा कर्म गौण हो जाता है एवं उसके फलस्वरूप भगवत्कृपा अनुभूत होकर चित्त आनन्द से पूर्ण हो जाता है एवं विषयानन्द क्षीण से क्षीणतर होने लगता है। इसको ही चित्तशुद्धि कहा जाता है। अतः कर्मफल त्याग से चित्तशुद्धि, चित्तशुद्धि से दसवें श्लोक में कहे हुए भगवत् कर्म परायण (मत्कर्मपरम) होकर साधक केवल बाहर का कर्म ही नहीं परन्तु भीतर का चिंतनरूप कर्म भी भगवान् के लिए ही करते हुए निरंतर भगवान् का स्मरण करते हैं। उसके पश्चात् नौवें श्लोक में कहे हुए अभ्यासयोग का अधिकारी होता है। उसके पश्चात् आठवें श्लोक में कहे हुए साधन के अनुसार बुद्धि तथा मन को भगवान् में निविष्टकर जीवन्मुक्ति अवस्था प्राप्त कर मृत्यु के पश्चात् परम-शान्ति रूप मोक्षपद को प्राप्त होता है। अतः सर्वकर्म फलत्याग से क्रमशः परमशान्ति अर्थात् अविद्या सहित समस्त संसार का उपराम तथा परमानन्द की प्राप्ति होती है। इसलिए भगवान् कह रहे हैं कि 'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'।

[पूर्ववर्ती पाँचवें श्लोक से बारहवें श्लोक तक आत्मा और ईश्वर के भेद को स्वीकार कर विश्वरूप-ईश्वर में चित्त का समाधान का उपाय भगवान् ने कहा एवं मन्दाधिकारी के लिये ईश्वर में अर्पणबुद्धि से सर्वकर्म का अनुष्ठान आदि का भी उपदेश दिया। परन्तु 'अथैतदप्यशक्तोऽसि' ऐसा कहकर कर्मयोग अज्ञान का कार्य है यह सूचित करते हुए भगवान् दिखलाते हैं कि जो अव्यक्त अक्षर की उपासना करने वाले अभेददर्शी हैं इनके लिए कर्मयोग सम्भव नहीं है और यह भी साथ ही दिखलाते हैं कि कर्म-योगियों के लिए अक्षरब्रह्म की उपासना असम्भव है। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'ते प्राप्नुवन्ति मामेव' इस कथन से, जो अक्षर ब्रह्म की उपासना करते हैं उनके लिए मोक्षप्राप्ति में स्वतन्त्रता है अर्थात् ईश्वर कृपा की उनकी अपेक्षा नहीं है। फिर **'तेषाम्**

अहम् समुद्धर्ता' इसप्रकार कहकर सगुण ब्रह्म उपासकों के लिए परतन्त्रता अर्थात् उनकी मुक्ति के लिए ईश्वर की कृपा की अपेक्षा रहने के कारण उनकी ईश्वर-अधीनता दिखलाई है क्योंकि यदि कर्मयोगी अपने को ईश्वर का स्वरूप ही मानें तो अभेददर्शी होने के कारण वे अक्षरस्वरूप ही हुए हैं। अतः उनके लिए 'मैं उनका उद्धार करता हूँ' इसप्रकार भगवान् के ये वचन असंगत होंगे।

[भगवान् अर्जुन के अत्यन्त ही हितैषी होने के कारण कर्मयोग का अनुष्ठान सम्यक् ज्ञान होने पर सम्भव ही नहीं होता है यह सूचित कर कर्मयोग का ही भेददृष्टि-युक्त अर्जुन को उपदेश करते हैं क्योंकि यह युक्तिसिद्ध ही है कि ईश्वरभाव एवं सेवक भाव परस्पर विरुद्ध होने के कारण जिसने प्रमाण द्वारा आत्मा को ईश्वर स्वरूप जान लिया उसमें सेव्य-सेवक भाव रहना सम्भव है। इसलिए जिन्होंने समस्त इच्छाओं का त्याग कर दिया है ऐसे सम्यक् दर्शननिष्ठ (आत्मज्ञाननिष्ठ) अक्षर उपासक संन्यासियों का साक्षात् मोक्षका कारणरूप 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' इत्यादि धर्मसमूह हैं उनका वर्णन करूँगा इस उद्देश्य से भगवान् इसप्रकार कहने के लिए प्रवृत्त हुए हैं—]

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥ १३॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ १४॥

अन्वयः—यः मद्भक्तः सर्वभूतानाम् अद्वेष्टा, मैत्रः, करुणः एव (तत्रापि) निर्ममः निरहंकारः, सन्तुष्टः, योगी, यतात्मा, दृढनिश्चयः, मयि अर्पितमनोबुद्धिः च सः मे प्रियः।

अनुवाद—जो सभी प्राणियों में द्वेषभाव से रहित है तथा सब के साथ मित्र-भाव से व्यवहार करता है, जो करुणा से युक्त है (दीन दुःखियों पर दया करता है), जो ममता से रहित है, तथा अहंकारहीन है, सुख दुःख में समान है, क्षमावान है, निरन्तर सन्तुष्ट है, एकाग्रचित्त है, शरीर और इन्द्रियों को वश में रखने वाला है, दृढ़निश्चयी है

तथा मुझमें मन और बुद्धि को समर्पित किए हुए हैं ऐसा जो मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय है।

भाष्यदीपिका—यो मद्भक्तः—जो मेरा भक्त **सर्वभूतानाम् अद्वेष्टा**—सर्वभूतों में द्वेषभाव से रहित है अर्थात् समस्त प्राणियों को आत्मभाव से देखने के कारण जो अपने दुःख के हेतु होने पर भी किसी भी प्राणी के प्रति प्रतिकूल बुद्धि (द्वेष) नहीं रहती हैं क्योंकि समस्त प्राणी आत्मा ही हैं। **मैत्रः**—तथा सबके साथ मित्रभाव से व्यवहार करता है, **करुणः एव च**—करुणा (दीन दुःखियों पर दया) से युक्त है अर्थात् जो सब भूतों को अभय देने वाला संन्यासी (परमहंस परिव्राजक) है, **निर्ममः**—ममता से रहित [देह में भी 'यह मेरा है', ऐसे ज्ञान से रहित है (मधुसूदन)] **निरहंकारः**—अहंकार से रहित अर्थात् मैं और मेरा भाव से रहित, **समदुःख-सुखः**—सुखदुःख में सम है अर्थात् सुख और दुःख जिसके अन्तःकरण में रागद्वेष उत्पन्न नहीं कर सकते अतः **क्षमी**—जो क्षमावान् है अर्थात् किसी के द्वारा गाली दिए जाने पर या पीटे जाने पर भी जो किसी प्रकार विकार प्राप्त नहीं होता है **सततं सन्तुष्टः**—सदा ही सन्तुष्ट है अर्थात् शरीर की स्थिति के कारणरूप पदार्थों की प्राप्ति और अप्राप्ति में जिसके [जो कुछ होता है वही ठीक है 'मैं और कुछ नहीं चाहता हूँ' ऐसा] अलम् प्रत्यय (पर्याप्त बुद्धि) हो गया है, अर्थात् जो गुणयुक्त वस्तु की प्राप्ति में या अप्राप्ति में सदा ही संतुष्ट रहता है वह तथा **योगी**—जो समाहित-चित्त है, **यतात्मा**—और जो आत्मा अर्थात् शरीर और इन्द्रियादि का संयम करने वाला है। **दृढनिश्चयः**—और दृढ़निश्चय वाला है अर्थात् आत्मतत्त्व के विषय में जिसका निश्चय स्थिर हो चुका है, **मयि-अर्पित-मनोबुद्धिः**—तथा मुझ भगवान् वासुदेव में (शुद्ध-ब्रह्म में जिस संन्यासी का संकल्प और विकल्पात्मक मन तथा निश्चयात्मिका बुद्धि ये दोनों समर्पित (स्थापित) हैं] **यः मद्भक्तः स मे प्रियः**—इसप्रकार जो मेरा भक्त [शुद्ध अक्षर ब्रह्म का उपासक है (मधुसूदन)] वह मेरा प्यारा है (अर्थात् वह सर्वदा मेरा आत्मस्वरूप होने के कारण मुझे प्रिय है (मधुसूदन) । 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः' (ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्यारा हूँ और वह मुझे अत्यन्त प्रिय है, इसप्रकार जो सप्तम अध्याय में कहा गया है, उसी का यहाँ विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—ऐसे भक्त के जो जो धर्म शीघ्र ही परमेश्वर के प्रसाद (अनुग्रह) की प्राप्ति में कारण होते हैं उनका वर्णन अद्वेष्टा इत्यादि आठ श्लोकों से कहते हैं। **सर्वभूतानाम् अद्वेष्टा मैत्रः**—इत्यादि जो सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति यथार्थ में द्वेषभाव से रहित है, सबका मित्र और करुणा (दया) भाव से युक्त है अर्थात् उत्तमों में द्वेष से रहित है और बराबर वालों में मित्र भाव से व्यवहार करता है तथा हीनों पर कृपा भाव रखता है. जो ममता और अहंकार से शून्य है. कृपालु होने के कारण ही दूसरों के साथ व्यवहार करते समय सुख और दुःख जिसके लिए समान है तथा जो क्षमाशील है, लाभ और हानि में जिसका चित्त संतुष्ट रहता है, जो योगी अर्थात् प्रमाद रहित है, जिसका स्वभाव सम्पूर्णरूप से वश में किया हुआ है, मेरे विषय में (मेरे स्वरूप के बारे में) जिसका निश्चय दृढ़ है जिसने मन और बुद्धि को मुझे समर्पित कर दिया है, इसप्रकार का जो मेरा भक्त है, वह मुझे अत्यन्त प्रिय है।

(२) शंकरानन्द—उक्त शांतिरूप ब्रह्मभाव को अर्थात् विदेह कैवल्य को प्राप्त करने की इच्छा से जो अद्वेष्टत्वादि धर्मों से युक्त होकर ब्रह्मनिष्ठा में स्थित रहता है वही मेरा भक्त मुझे प्रिय है, यह कहकर यतियों को सम्यक् ज्ञान की सिद्धि के लिए ब्रह्मनिष्ठा करनी चाहिए, ऐसा सूचित करने के लिए श्रीभगवान् अब सात श्लोकों से ब्रह्मवित् की स्तुति करते हैं। **सर्वभूतानाम् अद्वेष्टा**—सर्वभूतों का (प्राणियों का) जो अद्वेष्टा है [अपने प्रति उपद्रव करनेवाले किसी भी जन्तु में मन, वाणी, शरीर और कर्मों से जो द्वेष अर्थात् अप्रीति नहीं करता है वह अद्वेष्टा है। निर्विकल्प समाधिनिष्ठा से द्वैतबुद्धि अर्थात् भेद प्रत्यय निर्मूलित हो जाने से "मैं ही यह सब हूँ" इस प्रकार सर्वात्मभाव को जो प्राप्त हुआ है, ऐसे विद्वान् में भेदभाव की उत्पत्ति न होने के कारण अपने स्वरूपभूत (आत्मभूत) सम्पूर्ण प्रपञ्च में उसकी प्रीति होने से द्वेषबुद्धि असम्भव है, इसलिए ब्रह्मवित् यति किसी प्राणी के प्रति द्वेष नहीं करता है। इसलिए वह सब भूतों का अद्वेष्टा है। राग और द्वेष साथ-साथ चलते हैं, इसलिए एक में राग होनेपर ही उसके अपकारियों में द्वेष होता है। किन्तु सर्वात्मभावसम्पन्न विद्वान् पुरुष का किसी में राग न होने के कारण उसका सर्वभूतों का अद्वेष्टा होना युक्त ही है। 'अद्वेष्टा' शब्द से विद्वान् में रागद्वेषादि का अभाव तथा इनसे मुक्ति के प्रतिबन्ध का अभाव

सूचित किया गया है। फिर सर्वभूतों के साथ मित्र के समान अनुकूल व्यवहार करने के कारण वह **मैत्रः**—है अर्थात् अपने आत्मभूत सभी प्राणियों में सर्वत्र मित्र के समान व्यवहार करना विद्वान् के लिए युक्त है। मित्रत्व की सिद्धि का कारण कहा जा रहा है, **करुणः**—वह करुण (कृपालु) है अर्थात् केवल करुण से ही सबके साथ अनुकूल व्यवहार करता है गुणबुद्धि से नहीं क्योंकि गुण भी दोष के समान बन्धक है। 'करुण' शब्द में मतुप् के अर्थ में अस् प्रत्यय हुआ है। अद्वेष्टत्व, मैत्रत्व, करुणत्व इन तीन धर्मों की सिद्धि का कारण क्या है वह कहते हैं **निर्ममः**—पर (परायी) देह के समान अपने देह से जिसकी ममता निकल गयी है वह निर्मम है अर्थात् राग द्वेष का हेतु जो ममता है उसके बन्धन से मुक्त हुआ है। ममता न होनेपर ही विद्वान् पुरुषों में अद्वेष्टापन आदि तीनों धर्मों की सिद्धि होती है। निर्ममत्व की सिद्धि का कारण कहते हैं-**निरहंकारः**—'ब्रह्म ही मैं हूँ' इस प्रकार परब्रह्म में आत्मभाव प्राप्त होने पर देह से 'अहम्' बुद्धि जिसकी पूर्णरूप से निर्गत हो गयी है, वह निरहंकार है। निरंतर ब्रह्मनिष्ठा से (ब्रह्म में स्थिति से) जिसकी ब्रह्म में ही आत्मबुद्धि दृढ़ हो गयी है ऐसे पुरुष का देहादि में 'अहम्' भाव नष्ट हो जाता है एवं इसी से निर्ममत्व सिद्ध होता है। देह में अतिअल्प भी 'अहम्' बुद्धि रहनेपर ममता नष्ट नहीं होती है, अतः देह में अहंभाव के अभाव होने पर ही विद्वान् में निर्ममत्व होता है एवं उसी से **समदुःख-सुखः**—वह सुख और दुःख के प्राप्त होने पर समबुद्धि होता है अर्थात् हर्ष-विषाद से रहित होता है। [ब्रह्मनिष्ठा में स्थित रहनेवाला जो यति अनिष्टत्व बुद्धि एवं इष्टत्व बुद्धि का त्याग कर द्वेष और राग की उत्पत्ति का कारण दुःख और सुख को एकरूप से ग्रहण करता है, वह समदुःखसुख है।] सुख और दुःख में समबुद्धि की सिद्धि का हेतु क्या है ? यह अब कहते हैं-**क्षमी**—तितिक्षु आध्यात्मिक आदि दुःखों से होने वाले संताप और विलाप से रहित होकर जो सब कुछ सहन करता है, वही क्षमी (तितिक्षु) है। श्रुति भी कहती है-'वृक्ष इव तिष्ठासेच्छिद्यमानो न कुप्येत न कम्पेत' अर्थात् 'वृक्ष के समान स्थित होवे, छेदन करनेपर न कोप करे और न कांपे। तब कैसा स्थित रहना चाहिए ? इसपर कहते हैं-**सततं सन्तुष्टः**—सुख-दुःख, मान अपमान लाभ-हानि में सतत (सर्वदा) ही ब्रह्मानन्द के अनुभव से संतुष्ट (प्रसन्नवदन) होता है।

[यहाँ 'सतत' शब्द पाचों विशेषणों से सम्बन्ध रखता है] सदा आनन्द से युक्त होने का कारण क्या है, वह कहते हैं-**योगी**—सर्वदा आनन्दस्वरूप ब्रह्म में चित्त की निश्चलरूप स्थिति को योग कहते हैं। यह जिसका है वह योगी है अर्थात् सर्वदा आत्मा में ही जो रमण करता है वही योगी है। योगित्व की सिद्धि का हेतु क्या है ? **यतात्मा**—सतत (सर्वदा) यत (संयत) आत्मा (देह) जिसको है वह यतात्मा है। कार्यकारणरूप संघात का निरोध होने पर समाधि होती है। समाधिवालों को ही विपरीत प्रत्ययों का नाश एवं उसी से सम्यगज्ञान होता है एवं सम्यग् ज्ञानवाले को ही विदेह मुक्ति प्राप्त होती है। अतः यति को सदा समाधि से युक्त होना ही चाहिए। अथवा निरुद्ध है आत्मा (स्वभाव) अर्थात् वासना जिसकी वह यतात्मा है। सततयोगी एवं सततयतात्मा इन दो विशेषणों द्वारा युक्त होने से निश्चलरूप से योग की सिद्धि होती है। इसका कारण यह है कि वह योगी **दृढनिश्चयः**—अर्थात् निरंतर समाधि से उत्पन्न हुए ज्ञान के विषयभूत परंब्रह्म को ही आत्मरूप से अनुभव करने के पश्चात् 'ब्रह्म ही मैं हूँ संसारी मैं नहीं हूँ' इस प्रकार निश्चय जिसका दृढ़ हुआ है अर्थात् प्रमाणान्तर से अथवा प्रत्यान्तर से (अर्थात् अन्य किसी प्रमाण से या वृत्ति से) जिसका निश्चय छिन्न नहीं हो सकता है वह योगी दृढ़निश्चय है। अर्थात् मूढ़ व्यक्ति जैसे देह में आत्मबुद्धि करता है ऐसे ही उस योगी की अहंबुद्धि (आत्मबुद्धि) केवल ब्रह्म में ही आरूढ़ रहती है। अथवा नित्यनिरंतर समाधिनिष्ठा से जगत् की अधिष्ठानसत्ता के यथार्थस्वरूप के दर्शन से आरोपित वस्तु तथा उसका प्रत्यय इन दोनों का अभाव सिद्ध होने पर 'यह सब तथा मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसा सबका तथा अपना साक्षात् ब्रह्ममात्रत्व का अनुभव जिसका दृढ़ (अर्थात् दूसरे प्रमाण से अकम्पेय) निश्चय (वस्तुतत्त्व का अवधारण) है वह दृढ़-निश्चय है। इस प्रकार दृढ़निश्चयत्व की सिद्धि का कारण क्या है ? इसको कहते हैं—**मय्यर्पितमनोबुद्धिः**—बुद्धि (अहंवृत्ति) और मन (इदं वृत्ति) इन दोनों को मुझ प्रत्यक् अभिन्न पूर्णब्रह्म में ही जिसने अर्पित (अर्थात् सर्वत्र एवं सर्वदा मुझको ही एकमात्र विषय कर उसमें स्थापित) किया है वह 'मय्यर्पितमनोबुद्धि' है। **यो मद्भक्तः स मे प्रियः**—मुझको ही अहंबुद्धि और इदंबुद्धि का विषय करके जो सर्वदा मेरा अनुसंधान करता है इस प्रकार मेरा भक्त [अर्थात् सर्वदा तथा सर्वत्र ब्रह्ममात्रदर्शी

यति] मुझको (ईश्वर को) प्रिय है क्योंकि वह मेरा आत्मभूत (आत्मस्वरूप) ही है। सबको आत्मा ही प्रिय है। 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' (गीता ७।१८), इससे ज्ञानी मेरी आत्मा है ऐसा पहले निश्चित किया जा चुका है। इसलिए आत्मभूत ज्ञानी ही सदा मुझको प्रिय है उससे अन्य तो निमित्तवश प्रिय है। 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः' (गीता ७।१७) अर्थात् ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और मुझको ज्ञानी प्रिय है, ऐसा जो पहले कहा गया है उसका अर्थ ही [शुद्धात्मा, विवेकी तथा सूक्ष्मबुद्धिवाले मुमुक्षुओं की "हम लोग भी ब्रह्मस्वरूप होकर ईश्वर के प्रिय हो जायेंगे" इस बुद्धि से श्रवण मनन निदिध्यासन और समाधि में प्रवृत्ति हो सके इसलिए] यहाँ फिर प्रतिपादन किया है।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्ववर्ती श्लोक की नारायणी टीका में किस प्रकार सर्वकर्मफलत्याग से शनैः शनैः भगवान् में मन और बुद्धि को निविष्टकर परमात्मा को साक्षात् करके उनमें स्थिति प्राप्त हो सकती है, वह स्पष्ट किया गया है। जो भगवान् से अपने को पृथक् समझता है वह 'साधक-भक्त' है और जो भगवान् में पूर्णतया प्रविष्ट होकर उनके साथ एक हो जाता है वह 'सिद्ध-भक्त' (परमभक्त) है (गीता १८।५४-५५) इस प्रकार भगवान् के साथ आत्मभूत भक्त ही भगवान् का प्रिय होता है क्योंकि आत्मा सबको ही प्रिय है। भगवान् ने भी अपने मुख से ऐसा ही कहा है (गीता ७।१७-१८)। इस प्रकार भक्त सर्वत्र ही आत्मारूप भगवान् को देखने के कारण अद्वेष्टा होता है क्योंकि जो उसके दुःख का हेतु होता है उसको भी वह आत्मरूप से ही दर्शन करता है अर्थात् दुःख देनेवाला तथा दुःख पानेवाला दोनों में ही उसकी दृष्टि में आत्मा ही प्रतिभात (प्रकाशित) रहता है। अतः न तो कोई द्वेष्टा (द्वेष करने वाला) है न तो कोई द्वेष्य (द्वेष करने के योग्य पात्र) रहता है। पत्थर भी अपने को दुःख देनेवाले को द्वेष नहीं करता है तब क्या वह भगवद्भक्त पत्थर के समान है? इसके उत्तर में कहते हैं—नहीं। आत्मा सबका ही प्रिय तथा सुहृद् है इसके लिए इस प्रकार तत्त्वज्ञानी भक्त का सर्वत्र मैत्रीभाव रहना भी स्वाभाविक है। तब क्या वह भक्त कोई स्वार्थ के लिए दूसरे के साथ मित्रभाव दिखाते हैं? इसके उत्तर में कहते हैं—नहीं। वह अपनी आत्मा को ही सर्व मूर्ति में देखने के कारण दूसरे के सुख दुःख में अपना ही सुखदुःख

अनुभव करता है। अतः वह अपने के समान सुखी के प्रति जिस प्रकार मित्रभाव पोषण करता है, उसी प्रकार दुःखियों के प्रति करुणाशील है (कृपा तथा दयाशील) होता है। तब क्या इस प्रकार एकात्मदर्शी भक्त का भी किसी के प्रति ममत्व है ? इसके उत्तर में कहते हैं-नहीं। उनकी दृष्टि में द्वैतभाव न रहने के कारण देह, इन्द्रियादि में अथवा गृहादि में अथवा किसी व्यक्ति में उसकी ममता (मेरा भाव) रहना असम्भव है। इसलिए स्वभावतः ही वह सर्वत्यागी एवं सर्वभूतों को अभय प्रदान करने वाला होता है क्योंकि मैत्रभाव अथवा करुणता (दया) उसको स्वभावसिद्ध होती है-प्रयत्न से अथवा किसी प्रयोजन सिद्धि के लिए नहीं। जिस कारण से वे निर्मम (ममत्वहीन) हैं, उसी कारण से वह निरहंकार भी है। अज्ञान के कारण सर्व अनर्थ के मूल जो देहादि में अहं प्रत्यय है इससे रहित हो जाता है। देहादि को ही सुख एवं दुःख होता है आत्मा में नहीं। अतः देहादि में अहं प्रत्यय से रहित तथा आत्मा में स्थित रहने के कारण राग-द्वेष को उत्पन्न करनेवाले जो सुख और दुःखबोध हैं उनमें समबुद्धि हो जाता है अर्थात् सुख और दुःख को भी आत्मा के स्वरूप से ही ग्रहण करता है। अतः एक ही आत्मा का दर्शन करने के कारण उसका शोक-मोह, सुख दुःख इत्यादि का बोध उसको नहीं रहता है। श्रुति भी कहती है-'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'। सुख दुःख से जब रहित है तब उसके लिए सदा ही क्षमी (क्षमाशील) होना भी स्वाभाविक है। अतः वह स्वतः ही निरन्तर सन्तुष्ट भी रहता है अर्थात् कोई उसको ताड़न करने से भी उसकी कोई विक्रिया (विकार) नहीं होती है एवं चाहे लाभ हो या क्षति हो। सर्वावस्था में वह संतुष्ट ही रहता है क्योंकि वह सर्वदा समाहित चित्त होने के कारण योगी है। किस प्रकार से योगी हुआ है यह कहते हैं-वह यतात्मा है अर्थात् अपने शरीर, इन्द्रियों को वशीभूत कर भगवान् में आत्मा को (चित्त को) यत (स्थिर) रखने में समर्थ है। किस प्रकार से उसे सामर्थ्य प्राप्त हुई है ? क्योंकि वह दृढ़ निश्चय है अर्थात् आत्मतत्त्व विषय में असम्भावना और विपरीत भावना से शून्य होकर दृढ़ रूप से आत्मा के यथार्थ स्वरूप में श्रद्धावान् हुआ है। किस प्रकार से कौन उपाय से इस प्रकार दृढ़ निश्चय हो सका है ? (उत्तर-) उस संकल्पात्मक मन तथा निश्चयात्मिका बुद्धि मुझमें (शुद्धब्रह्म में) अर्पित कर साक्षात् अनुभव किया कि मैं ही

एकमात्र सत्यवस्तु हूँ–मुझसे अतिरिक्त और सब मिथ्या हैं। इस प्रकार मेरे भक्त का मैं आत्मा हूँ तथा वह मेरा आत्मा होने के कारण मेरा प्रिय है अर्थात् मेरा परमप्रेम का पात्र होता है।

(४) **मधुसूदन**—जो देह, इन्द्रियादि में आत्मबुद्धि (अर्थात् मैं देह हूँ मैं इन्द्रिय हूँ इसप्रकार की बुद्धि) करता है, इसप्रकार के मन्द अधिकारी व्यक्ति के लिए अक्षर ब्रह्म की उपासना अत्यन्त कठिन है, इसलिए पाँचवें श्लोक में भगवान् ने इस अक्षर ब्रह्म की उपासना की निन्दा द्वारा सुगम (सहज साध्य) सगुण ब्रह्म की उपासना का विधान ६–११ श्लोकों में किया है। सगुण उपासकों में भी शक्ति तथा अधिकार के तारतम्य का अनुवाद करते हुए भगवान् वासुदेव ने पृथक् पृथक् साधन का प्रतिपादन किया है। किसी प्रकार से मन्दाधिकारी व्यक्ति सब प्रकार के प्रतिबन्ध से रहित होकर उत्तम अधिकारी होकर सब साधनों की फलभूता अक्षर विद्या में अर्थात् निर्गुण ब्रह्म की उपासना में उतर सके, इसी लिये भगवान्ने ऐसा किया क्योंकि साधनों का विधान तो फल के लिए ही होता है। शास्त्र में भी कहा है—

'निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः।
ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः॥
वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात्।
तदेवाऽऽविर्भवेत्साक्षादपेतोपाधिकल्पनम् ॥'

अर्थात् जो मन्द अधिकारी निर्विशेष परब्रह्म का साक्षात्कार करने में असमर्थ हैं, सगुण ब्रह्म का निरूपण करके उनपर कृपा की जाती है। इस सगुण ब्रह्म के चिन्तन द्वारा जब इनका मन अपने वश में हो जाता है तो इन्हें उपाधि की कल्पना से रहित साक्षात् उस निर्विशेष ब्रह्म का ही साक्षात्कार हो जाता है।

भगवान् पतञ्जलि ने भी कहा है—"समाधिसिद्धिरीश्वरः प्रणिधानात्" अर्थात् ईश्वर प्रणिधान से समाधि की सिद्धि होती है। 'ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च' अर्थात् उससे प्रत्यक् चेतना की प्राप्ति और अन्तरायों (प्रतिबन्धों) का अभाव होता है। सूर्योदय के समय होम का विधान करने के लिए जिस प्रकार सूर्य का उदय न

होने पर होम करने की निन्दा की जाती है ऐसे ही यहाँ अक्षर उपासना की निन्दा सगुण उपासना की स्तुति के लिए की गयी है निर्गुण उपासना को हेय बताने के लिए नहीं। इस विषय में शास्त्र में कहा है 'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्ततेऽपि तु विधेयं स्तोतुम्' अर्थात् जिस वस्तु की निन्दा की जाती है उसकी निन्दा करने के लिए निन्दा प्रवृत्त नहीं होती बल्कि जिसका विधान करना होता है उसकी स्तुति के लिए प्रवृत्त होती है। इसलिए वास्तव में तो अक्षर उपासक ही योगवेत्ता में सर्वश्रेष्ठ है—

'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।'
'उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ॥'

अर्थात् ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझे प्यारा है। 'ये सभी भक्त उदार हैं, किन्तु ज्ञानी को तो मैं आत्मा ही मानता हूँ। भगवान् ने उक्त वाक्य से पुनः पुनः उसे ही अर्थात् निर्गुण आत्मा में स्थित भक्त को ही श्रेष्ठ कहा है। अतः अर्जुन को भी अधिकार प्राप्त करके उसी ज्ञान और धर्मसमूह का अनुसरण करना उचित है, यह अर्जुन को समझाने की इच्छा से श्रीभगवान् अद्वेष्टा इत्यादि सातों श्लोकों द्वारा उन अभेददर्शी अक्षर उपासकों की ही स्तुति करते हैं।

[अब अक्षर उपासक के और कई प्रसिद्ध गुणों का (विशेषणों का निर्देश कर रहे हैं —]

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

अन्वयः—यस्मात् लोकः न उद्विजते यः च लोकात् न उद्विजते यः च हर्षामर्षभयोद्वेगैः मुक्तः सः मे प्रियः।

अनुवाद—जिससे लोक उद्विग्न नहीं होता है और जो लोक से उद्विग्न नहीं होता है तथा जो हर्ष, भय से रहित है वह मुझे प्रिय है।

भाष्यदीपिका—यस्मात्—पूर्वश्लोकोक्त गुणों से विशिष्ट–संन्यासी जो सर्व-

भूत को अभय देने वाला है अतः किसी के भय का हेतु नहीं होता है, उससे कोई लोक (कोई प्राणी) **न उद्विजते**—उद्वेग (संताप) प्राप्त नहीं होता है **यः च लोकात् न उद्विजते**--जिनका निरपराध पुरुष को उद्विग्न करना ही एक मात्र व्रत है, ऐसे दुष्ट लोगों से जो (अद्वैतदर्शी, परमकारुणिक एवं क्षमाशील होने के कारण) उद्विग्न नहीं होता है तथा **यः हर्षामर्षभयोद्वेगैः मुक्तः**—जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेग से रहित है [प्रिय वस्तु के लाभ से अन्तःकरण में जो उत्साह होता है, (रोमाञ्च और अश्रुपात आदि जिसके चिह्न हैं) उसका नाम हर्ष है। दूसरे की उन्नति को सहन न करना रूप चित्तवृत्ति विशेष (असहिष्णुता) को अमर्ष कहते हैं। व्याघ्रादि के दर्शन से होने वाला त्रासरूप चित्तवृत्ति विशेष का नाम है भय और 'मैं जनशून्य वन में सब प्रकार के परिग्रह से रहित होकर (किसी वस्तु का संग्रह नहीं कर अकेला कैसे जीवित रह सकूँगा' इस प्रकार की व्याकुलतारूप चित्त के वृत्तिविशेष को उद्वेग कहते हैं। इन सबसे जो मुक्त है वह मेरा प्यारा है। कहने का अभिप्राय यह है कि अद्वैतदर्शी होने से हर्ष, अमर्ष, भय तथा उद्वेग के योग्य न होने का कारण जिसे स्वयं उन्होंने (हर्ष, अमर्ष आदि वृत्तियाँ ने) ही त्याग दिया है अर्थात् हर्षामर्षादि को त्यागने के लिए जो अपनी ओर से कोई व्यापार नहीं करते, ऐसा जो मेरा भक्त है वह मुझे प्रिय है (मधुसूदन)।]

टिप्पणी (१) श्रीधर--तथा **यस्मात् न उद्विजते लोकः इत्यादि**--जिससे लोक (जनसमुदाय) उद्विग्न नहीं होते हैं अर्थात् भय की आशंका से क्षोभ को प्राप्त नहीं होते हैं, जो स्वयं भी दूसरे लोगों से उद्वेगयुक्त नहीं होते हैं तथा जो स्वाभाविक हर्ष, अमर्ष, भय तथा उद्वेग से रहित हो गए हैं एवं अपने अभीष्ट पदार्थों का लाभ होने पर चित्तवृत्ति का जो उत्साहरूप हर्ष होता है, दूसरे का लाभ न सहन होने के कारण जो अमर्ष उत्पन्न होता है तथा त्रास होने के कारण जो भय उत्पन्न होता है एवं भय आदि के कारण चित्त में होने वाला क्षोभरूप उद्वेग होता है—इन सबसे मुक्त जो मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय है।

(२) शंकरानन्द—अद्वेष्टा से लेकर स्थिरमति तक (गीता १२।१३-१९) जो सिद्ध पुरुष के अद्वेष्टृत्वादि तैंतीस लक्षण हैं, वे साधक के ज्ञान परिपाक के साधन

हैं। अतः साधक को उनका अवश्य सम्पादन करना चाहिए ऐसा सूचित करने के लिए अध्याय की समाप्ति पर्यन्त उनका प्रतिपादन करते हैं। **लोकः यस्मात् न उद्विजते**--लोगजन जिससे उद्विग्न नहीं होते हैं (उद्वेग को प्राप्त नहीं होते हैं) अर्थात् जिस ब्रह्मवित् के आगमन, श्रवण, दर्शन आदि से कोई प्राणी विक्षिप्त नहीं होता है। **लोकात् यः न उद्विजते**—उपद्रव करनेवाले चोर सर्प व्याघ्रादि से जो स्वयं उद्विग्न नहीं होता है अर्थात् चोर आदि के आगमन दर्शन, स्पर्श आदि से उद्वेग नहीं प्राप्त होता है, यही कहने का अभिप्राय है। **यः हर्षामर्षभयोद्वेगैः मुक्तः**—साधारणतः इष्ट प्राप्ति होने पर हर्ष, रोगादि उपद्रवों के प्राप्त होने पर अमर्ष (असहिष्णुता) चोर सर्प आदि क्रूर (भयंकर) जन्तुओं के दर्शन आदि से भय तथा प्राणहरण के हेतु कोई अनर्थ के प्राप्त होने पर देहात्माभिमानी पुरुष उद्वेग युक्त होते हैं। ये सभी चित्त के विकार अज्ञान से उत्पन्न होते हैं। अतः इन तीनों से जो मुक्त है अर्थात् हर्षादि के विपरीत धर्मों से (हर्षाभाव, अमर्षाभाव आदि से) विशिष्ट होकर जो मेरी (भगवान् की) निष्ठा में ही स्थित रहता है, वह भक्त मुझको प्रिय है।

(३) नारायणी टीका—जो भगवान् का आत्मरूप से दर्शन कर आत्मा में ही स्थित रहता है एवं भगवान् की आत्मा होने के कारण जो भगवान् का प्रिय भक्त है, उनकी दृष्टि में आत्मा के अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तु की सत्ता न रहने के कारण किसी से उद्वेग प्राप्त होना अथवा किसी को उद्वेग देना सम्भव नहीं है क्योंकि उद्वेग (सन्ताप अथवा भयजनित क्षोभ) देने वाला तथा उद्वेग प्राप्त करने वाला दोनों को ही वह भगवान् के नाटक की लीलारूप से देखता है। सब ही मायारचित होने के कारण इस प्रकार के नाटक के दृश्य से उसको सदा आनन्द ही होता है, सन्ताप या किसी प्रकार के दुःख की लेशमात्र भी सम्भावना नहीं रहती। अतः इस प्रकार योगी को हर्ष (प्रियवस्तुलाभ करने से रोमाञ्च, अश्रुपातादि हेतुभूत आनन्दवृत्ति) अमर्ष (किसी के उत्कर्ष सहन न करने के कारण चित्तवृत्ति का विषादभाव) भय (त्रास) उद्वेग (उद्विग्नता) का भी होना सम्भव नहीं है। इस प्रकार भक्त भगवान् को प्रिय है क्योंकि वह सर्वरूप में, सर्वस्पर्श में, सर्वरस में एकमात्र परमानन्दस्वरूप भगवान् को ही देखता है एवं आनन्दमय के साथ एक होकर स्थित रहता है अर्थात् आनन्दी हो जाता है।

[ज्ञानियों के और विशेष गुणों को बतलाते हैं—]

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

अन्वय—यः मद्भक्तः अनपेक्षः शुचिः दक्षः उदासीनः गतव्यथः सर्वारम्भ-परित्यागी सः मे प्रियः ।

अनुवाद—जो मेरा भक्त अनपेक्ष है अर्थात् समस्त भोग्य सामग्रियों के प्राप्त होने पर भी इनकी अपेक्षा (इच्छा) नहीं रखता है अर्थात् जो सम्पूर्णतया स्पृहा से (इच्छा से) रहित है तथा जो बाहर भीतर की पवित्रता से सम्पन्न है, दक्ष (चतुर) है, उदासीन और गतव्यथ (निर्भय) एवं सर्वारम्भपरित्यागी [लौकिक तथा अलौकिक फल देने वाले जितने कर्म (आरम्भ) हैं उन्हें त्यागने का जिसका स्वभाव है, अतः जो संन्यासी है वह] मेरा प्रिय (प्यारा) है ।

भाष्यदीपिका—अनपेक्षः—जिन सब वस्तुओं के लिए साधारण व्यक्ति की अपेक्षा रहती है उन सब भोग की सामग्रियों के दैववश प्राप्त होने पर भी जिसकी इच्छा नहीं रहती है अर्थात् जो निस्पृह (सर्व प्रकार के विषय की स्पृहा से शून्य) है, **शुचिः**—जो बाहर-भीतर की पवित्रता से सम्पन्न है **दक्षः**—जो चतुर है अर्थात् अनेक कर्मों के प्राप्त होने पर भी तुरंत ही यथार्थ कर्तव्य को निश्चित करने में समर्थ है [जानने और करने योग्य विषय के उपस्थित होने पर तत्काल ही उन्हें जानने और करने में जो समर्थ है (मधुसूदन)] **उदासीनः**—जो मित्रादि किसी का भी पक्षपात न करने वाला संन्यासी है **गतव्यथः**—जो निर्भय है [दूसरे के पीटने पर भी जिसकी व्यथा अर्थात् पीड़ा उत्पन्न नहीं होती है वह गतव्यथ है । व्यथा होने पर भी अपकार न करने वाले को क्षमाशील कहते हैं और व्यथा के कारण रहते हुए भी जिसको व्यथा का अनुभव नहीं होता है उसे गतव्यथ कहते हैं—यह इन दोनों में (क्षमाशील पुरुष तथा गतव्यथ पुरुष में) अन्तर है]। **सर्वारम्भपरित्यागी**—जिसका आरम्भ किया जाय उसका नाम 'आरम्भ' है अर्थात् [इस लोक और परलोक के फल-भोग के लिए अनुष्ठित] समस्त कामनाहेतुक (सकाम) कर्मों का नाम 'सर्वारम्भ' है इन्हें

त्यागने का जिसका स्वभाव है वह सर्वारम्भपरित्यागी है। **यो मद्भक्तः स मे प्रियः**—ऐसा (उक्त गुणों से सम्पन्न) जो मेरा भक्त है वह मेरा प्रिय है।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—अनपेक्षः शुचिर्दक्षः इत्यादि—फिर जो अपेक्षारहित है (बिना अपनी इच्छा के दैववश प्राप्त पदार्थों में भी स्पृहारहित है तथा बाहर-भीतर की शुद्धि से सम्पन्न है, दक्ष (आलस्यरहित), उदासीन (पक्षपात-रहित), गतव्यथ (व्यथा से रहित अर्थात् मानसिक पीड़ा से रहित है), सर्वारम्भ-परित्यागी है [जिसका स्वभाव सम्पूर्ण दृष्टफल वाले आरम्भ का (उद्यमों का) परित्याग कर देना है], ऐसा जो मेरा भक्त है वह मेरा प्रिय है।

(२) शंकरानन्द—[ब्रह्मवित् पुरुष के और भी लक्षण बताते हैं-] जो कोई वस्तु देखी और सुनी जाती है उनमें तथा देह तथा जीवन के पोषण आदि में भी असत् बुद्धि (मिथ्याबुद्धि) होने के कारण ब्रह्मनिष्ठ यति जीवित दशा में ही मुक्त है। अतः वह अनपेक्ष है अर्थात् मोक्ष में भी इस प्रकार के ब्रह्मनिष्ठ यति को अपेक्षा नहीं रहती है। अतः सब कामनाओं से वह निर्मुक्त है। 'कर्मस्वसंगमः शौचम्' (कर्म में असंग ही शौच है), इस न्याय से अन्नग्रहण, मलत्यागादि दृष्ट और अदृष्ट कर्म देह—इन्द्रियादि से ही सम्पन्न होता है—आत्मा से नहीं, इसप्रकार कर्मों में अकर्मत्वदर्शन से उनसे सम्बन्ध न होने के कारण कर्तृत्वशून्य आत्मदर्शी ब्रह्मवित् ही शुचि अर्थात् नित्य शुद्ध है। **दक्षः**—श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, न्याय, मीमांसा आदि सब शास्त्रों के पढ़ने-पढ़ाने में उनके अर्थ प्रकाश करने में, यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान करने-कराने में तथा सब कर्मों को समझने-समझाने में एवं सब कर्मों को करने-कराने में जो समर्थ है तथा इसप्रकार सामर्थ्य रहने पर भी जो सर्वारम्भपरित्यागी (सर्वकर्म संन्यासी) है [जिनका आरम्भ किया जाता है वे आरम्भ है। समस्त आरम्भ को सर्वारम्भ कहते हैं। लौकिक और वैदिक सब कर्म अविद्या, काम, संकल्प, अहंकार आदि दोषों को बढ़ाने वाले हैं, अतः ज्ञान और उसके फल जो मोक्ष है उनका प्रति-बन्धक है। उनका त्याग करने का जिसमें स्वभाव है अर्थात् जो सब कर्मों को दोष-बुद्धि से त्याग कर देना है। वह सर्वारम्भपरित्यागी है।] तथा विहित का आचरण

धर्म है उसका त्याग अधर्म में धर्मबुद्धि और धर्म में अधर्मबुद्धि श्रोत्रिय विवेकी पुरुष के लिए सन्ताप का (मानसिक दुःख का) कारण होता है। अतः धर्म का त्याग कर स्वयं अधर्म करके श्रोत्रिय विद्वान् क्यों नहीं संताप को प्राप्त होगा इसप्रकार आशंका करना उचित नहीं है क्योंकि कर्म मोक्ष के प्रति साधन नहीं है अर्थात् केवल कर्म से (ज्ञान के विना) मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है। बल्कि सम्यक् प्रकार से उत्पन्न हुए ज्ञान के प्रतिबन्धक कर्म होते हैं। इसलिए मुमुक्षु को उनका त्याग करना न्यायसिद्ध है। अतः न्याय के अनुसार व्यवहार करने वाला विद्वान् कर्म का त्याग कर संताप प्राप्त नहीं होता है, इसे स्पष्ट करने के लिए कहते हैं **गतव्यथः**—गत (चित्त से निकल गयी है) व्यथा [कृत्यका (कर्तव्य कर्मों का) अनुष्ठान नहीं करना एवं अकृत्य का (जो कर्म करना उचित नहीं है उसके अनुष्ठान से उत्पन्न हुआ संताप] जिसका वह गतव्यथ है। कृत्य, अकृत्य दोनों ही अनात्मा (देह-इन्द्रियादि) द्वारा किये जाते हैं, अतः अकर्ता शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा को देखने वाला ब्रह्मवित् संताप को प्राप्त नहीं होता है, यही कहने का अभिप्राय है। श्रुति भी कहती है–'नैनं कृताकृते तपतः' अर्थात् उस ब्रह्मवित् पुरुष को पुण्य और पाप संतप्त नहीं करते हैं। प्रश्न होगा कि इसप्रकार ब्रह्मनिष्ठ पुरुष कैसे रहता है, इस पर कहते हैं **उदासीनः**—युक्त अनुकूल या अयुक्त प्रतिकूल आहारादि कर्मों में अपने प्रारब्ध के अनुसार देह इन्द्रियादि के प्रवृत्त होने पर स्वयं तटस्थ के समान उदासीन (साक्षी होकर) अविक्रिय (अविचलित) स्वरूप से चुपचाप स्थित रहता है **यो मद्भक्तः स मे प्रियः**—ऐसे लक्षण से युक्त (गुणों से सम्पन्न) जो मेरा भक्त है वह मेरा प्रिय है।

(३) **नारायणी टीका**—ब्रह्मवित् पुरुष के और क्या-क्या स्वतःसिद्ध गुण हैं उन्हें कहा जा रहा है—जो भक्त मुझमें निरन्तर स्थिति के कारण (१) अनपेक्ष है (देह, इन्द्रियादि के विषय के सम्बन्ध में कोई अपेक्षा नहीं रखते है एवं भोग्य-विषय समूह प्रारब्धवश उपस्थित होने पर भी जो उनमें निस्पृह रहते हैं अथवा आत्मा से भिन्न सभी वस्तुओं को मिथ्या जानकर जो उनमें अनपेक्ष (स्पृहाशून्य) रहते हैं तथा जो (२) शुचि रहते हैं अर्थात् जो नित्यशुद्धबुद्ध परमब्रह्म को अपनी आत्मा जानकर काम, क्रोध, लोभादि से युक्त होकर शुद्धभावसम्पन्न होते हैं, जो (३) दक्ष हैं अर्थात्

कोई भी कर्त्तव्यकर्म उपस्थित होने पर उसी समय जिस प्रकार करना चाहिए उसी प्रकार करने में समर्थ है क्योंकि देहादि में आत्मबुद्धि न रहने से उसके चित्त में कोई विक्षेप का हेतु न रहने के कारण एकाग्रतापूर्वक सर्व कर्म कुशलता सह करने की सामर्थ्य स्वतः ही होती है। वह ब्रह्मवित् सर्वत्र एकही आत्मा का दर्शन करता है अतः वह उदासीन (पक्षपात से रहित होता है) अथवा मान-अपमान आदि में तथा शत्रु या मित्र में समवृत्ति होता है [किसी से पीड़ा मिलने पर भी वह देखता है कि एक त्रिगुणात्मक पिण्ड के साथ दूसरे त्रिगुणात्मक पिण्ड का व्यवहार हो रहा है (अर्थात् गुण-गुण के साथ काम कर रहा है (गीता ३।२८) ।] इसलिए गुण (माया) के नाटक के द्रष्टारूप में रहने के कारण उन्हें कोई व्यथा (पीड़ा) अनुभूत नहीं होती अर्थात् वह गतव्यथ होते हैं। उनकी दृष्टि में आत्मा के अतिरिक्त दूसरी किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है, इसलिए इहकाल अथवा परकाल में उसकी कोई काम्य (इच्छित) वस्तु न रहने के कारण फल की आकांक्षा से कोई कर्म वह नहीं करता हैं अर्थात् सर्वारम्भ का परित्याग कर देता है। [फलभोग की वासना द्वारा प्रेरित होकर जो कर्म किया जाता है उसे 'आरम्भ' कहते हैं।] इसप्रकार ब्रह्मनिष्ठ भक्त भगवान् के आत्म-स्वरूप होने के कारण भगवान् को प्रिय होगा इसमें और संशय क्या हो सकता ? ब्रह्मवित् विद्वान् का और क्या-क्या विशेष लक्षण हैं वह बताते हैं—]

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥

अन्वयः—यः न हृष्यति, न द्वेष्टि, न शोचति, न कांक्षति, यः च शुभाशुभ-परित्यागी भक्तिमान् सः मे प्रियः ।

अनुवाद—जो इष्ट वस्तु की प्राप्ति में हर्षित नहीं होता है तथा अनिष्ट की प्राप्ति में द्वेष नहीं करता है, प्राप्त इष्ट का (प्रिय वस्तु का) वियोग होने पर शोक नहीं करता है और अप्राप्त वस्तु की आकांक्षा नहीं करता है, ऐसा जो शुभ और अशुभ कर्मों का त्याग कर देनेवाला भक्तिमान् पुरुष है वह मेरा प्रिय (प्यारा) है।

भाष्यदीपिका—यः न हृष्यति—जो इष्ट वस्तु की प्राप्ति में हर्षित नहीं होता है, **न द्वेष्टि**—अनिष्ट की प्राप्ति में द्वेष नहीं करता है **न शोचति**—प्राप्त हुई प्रिय वस्तु का वियोग होने पर शोक नहीं करता है **न कांक्षति**—अप्राप्त इष्ट (प्रिय) वस्तु की प्राप्ति की इच्छा नहीं करता है **शुभाशुभपरित्यागी**—सुख और दुःख के साधनभूत शुभ और अशुभ कर्मों को त्यागने का जिसका स्वभाव है अर्थात् उन कर्मों का जो त्याग कर देता है **यः भक्तिमान् स मे प्रियः**—इस प्रकार का भक्तिमान् पुरुष मेरा प्रिय है।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—यो न हृष्यति न द्वेष्टि इत्यादि—प्रिय वस्तु को प्राप्त होकर जो हर्षित नहीं होता है, अप्रिय को पाकर जो द्वेष नहीं करता है, इष्ट विषय (प्रिय) का नाश होने पर जो शोक नहीं करता है, अप्राप्त पदार्थ को प्राप्त करने के लिए जो आकांक्षा (इच्छा) नहीं करते हैं तथा शुभ (पुण्य) और अशुभ (पाप) इन दोनों को त्यागना जिसका स्वभाव है-इस प्रकार होकर जो मेरे प्रति भक्तिमान् (भक्तियुक्त) है वह मुझे प्रिय है।

(२) शंकरानन्द—[राग-द्वेष के विना दूसरा कोई मुक्ति का प्रतिबन्धक नहीं है, इसलिए मुमुक्षु को उन दोनों का त्याग अवश्य करना चाहिए, यह सूचित करने के लिए राग-द्वेष से रहित होना मुक्त का लक्षण है, ऐसा कहते हैं—] **यो न हृष्यति न द्वेष्टि**—जो ब्रह्मवित् संन्यासी अपनी इच्छा नहीं रहने पर भी अथवा दूसरे की इच्छा से कोई इष्ट वस्तु की प्राप्ति होने पर स्वयं प्रसन्न नहीं होता है अर्थात् दूसरे के प्रयत्न से इष्ट वस्तु की प्राप्ति में भी हर्ष नहीं करता है तथा अनिष्ट वस्तु के प्राप्त होने पर द्वेष नहीं करता है अर्थात् अपना अनिष्ट करनेवाले पदार्थों में भी अप्रीति नहीं करता है **न शोचति**—महान् अनिष्ट विषय प्राप्त होने पर शोक नहीं करता है अर्थात् उस प्रकार महान् अनिष्ट के प्राप्त होने पर भी आत्मनिष्ठा, धैर्य तथा शोक के अविषय जो आत्मज्ञान प्राप्त हुआ है, उसके बल से स्वयं अश्रुपात तथा विलाप नहीं करता है। फिर **न कांक्षति**—प्राप्त हुए अनर्थ की निवृत्ति भी नहीं चाहता है क्योंकि प्रारब्ध के भोग के क्षय के विना केवल इच्छामात्र से उसकी निवृत्ति सम्भव नहीं है। अर्थात् तितिक्षा (सहनशीलता) को आश्रय कर उसका प्रतिकार करने के लिए कुछ भी प्रयत्न

नहीं करता है। **शुभाशुभपरित्यागी**—शुभ (पुण्य), अशुभ (पाप) कर्म अज्ञान से उत्पन्न हुई इच्छा अथवा अनिच्छा से चिदाभास द्वारा किए जाते हैं। उनका अकर्मत्व ज्ञान से अर्थात् 'मैं नहीं करता हूँ'–इस ज्ञान से त्याग करने के लिए (अपने से विश्लेषण अर्थात् पृथक् करने के लिए) जिसमें शील (स्वभाव) है वह शुभाशुभपरित्यागी है। कहने का अभिप्राय यह है कि ज्ञानी आत्मज्ञान के बल से देह-इन्द्रियादि से ही किए गए कर्मों में स्वयं लिप्त नहीं होता है क्योंकि श्रुति में कहा है "तद् यथा पुष्करपलाशः' अर्थात् जैसे कमल का पत्ता जल से सम्बद्ध (सिक्त) नहीं होता है, ऐसे ही वह विद्वान् कर्मों से लिप्त नहीं होता है। जो इस प्रकार से लक्षणयुक्त भक्तिमान् (ज्ञानवान्) यति (संन्यासी) है वह मुझको प्रिय है।

(३) **नारायणी टीका**-पूर्वश्लोकों में उक्त जो स्वतः-सिद्ध गुण ब्रह्मवित् भक्तों में देखे जाते हैं वे सर्व प्रकार से द्वैत बुद्धि का अभाव होने पर ही सम्भव है, अन्यथा नहीं सर्वव्यापी भगवत्सत्ता में अपने क्षुद्र अहं का बलिदान होनेपर जगत् की कोई वस्तु उनको स्पर्श नहीं कर सकती। इसलिए श्रुति में कहा है 'अशरीरं वा वसन्तं नैनं पुण्यपापे स्पृशतः' (बृह० उ०) अर्थात् जिसने परिच्छिन्न शरीर में आत्माभिमान से शून्य होकर सर्वव्यापी निराकार शुद्ध चैतन्यसत्ता को अपनी आत्मा के रूप से जान लिया एवं उस स्वरूप में ही स्थित हो गया उसको पुण्य पाप (अतः सुख-दुःख इत्यादि) स्पर्श नहीं कर सकते हैं। इसलिए वह दैवात् प्रिय वस्तु को प्राप्त होकर हर्षित नहीं होता है तथा अप्रियवस्तु को प्राप्त कर भी द्वेष नहीं करता हैं, अर्थात् वह राग-द्वेष से सम्पूर्णरूप से मुक्त हो जाता है, फिर पत्नी, पुत्र, वित्त, प्रभृति का नाश होने पर भी शोक नहीं करता अथवा अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए आकांक्षा (इच्छा) भी नहीं करता अर्थात् वह शोक मोह से मुक्त हो जाता है। इसलिए श्रुति कहती है–'तत्र को मोह कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' अर्थात् सर्वत्र जो एक परमात्मा को ही देखता है, उसमें किसी वस्तु के लिए शोक अथवा मोह (आकांक्षा इत्यादि) का सम्भव नहीं होता है। अतः वह शुभ (कल्याण या पुण्य) तथा अशुभ (अकल्याण या पाप) इन दोनों संसार बन्धन के कारण को परित्याग कर देता हैं अर्थात् उनसे वह पूर्णतया मुक्त हो जाता है इस प्रकार भक्तिमान् भक्त पुरुष भगवान् को प्रिय होगा इसमें संशय क्या हो सकता है ?

[वैषम्य बुद्धि का अभाव ही सर्वत्र समदर्शी भक्तों का विशेष लक्षण है यह अब बतलाते हैं—]

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ १८ ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥

अन्वयः—शत्रौ च मित्रे च समः, तथा मानापमानयोः (समः) शीतोष्णसुखदुःखेषु समः, सङ्गविवर्जितः, तुल्यनिन्दास्तुतिः मौनी, येन केनचित् संतुष्टः, अनिकेतः स्थिरमतिः, भक्तिमान् नरः मे प्रियः भवति ।

अनुवाद—जो शत्रु तथा मित्र में एवं मान तथा अपमान में (सत्कार तथा तिरस्कार में) समान रहता है एवं शीत, उष्ण और सुख-दुःख में भी समभाव रखता है तथा सर्वत्र संग (आसक्ति) से वर्जित (रहित) है जिसके लिए निन्दा और स्तुति दोनों बराबर हो गई हैं–जो मुनि (संयतवाक्) है–जो शरीरस्थिति मात्र के लिए जो कुछ मिल जाय उसीसे संतुष्ट है–जो अनिकेत है अर्थात् जिसका कोई नियत निवास स्थान नहीं है–जिसकी परमार्थ-विषयक मति (बुद्धि) स्थिर हो चुकी है, ऐसा भक्तिमान् पुरुष मेरा प्रिय है ।

भाष्यदीपिका—शत्रौ च मित्रे च समः—जो शत्रु तथा मित्र में समभाव (तुल्यभाव) सम्पन्न है **तथा मानापमानयोः** – एवं उसी प्रकार मान (पूजा अर्थात् सत्कार) एवं अपमान (परिभव अर्थात् तिरस्कार) में समान रहता है **शीतोष्णसुखदुःखेषु समः**—शीत उष्ण एवं सुख दुःख में भी समभाव वाला है । **सङ्गविवर्जितः**-एवं सर्वत्र संग से (आसक्ति से) विवर्जित (विशेषभाव से अर्थात् पूर्णरूप से रहित) हुआ है । [चेतनाचेतन सभी विषयों में शोभन अध्यास से (रमणीयत्व बुद्धि से) रहित अर्थात् हर्ष और विषाद से सर्व प्रकार से शून्य–(मधुसूदन)] **तुल्यनिन्दा-**

स्तुतिः—निन्दा (दोष कथन), स्तुति (गुणकथन) ये दोनों यथाक्रम से सुख और दुःख के हेतु होते हैं। जिसके लिए ये दोनों बराबर (समान) हो गये हैं उसको 'तुल्यनिन्दास्तुति' कहते हैं। **मौनी**—संयतवाक् (वाणी जिसके वश में है) [यदि कहो कि शरीर-यात्रा के निर्वाह के लिए तो वाणी के व्यापार की अपेक्षा है तो कहते हैं कि यह बात ठीक नहीं है क्योंकि वह—] **संतुष्टः येनकेनचित्**—जो कुछ भी मिल जाय उसीसे संतुष्ट रहता है अर्थात् बिना अपने प्रयत्न के (बलवान् प्रारब्धकर्म द्वारा) केवल शरीर की स्थिति के लिए जो कुछ भोजनादि प्राप्त होता है उसीसे संतुष्ट रहता है। शास्त्र में भी कहा है—

येन केनचिदाच्छन्नो येन केनचिदाशितः।
यत्र क्वचनशायी स्यात्तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥

अर्थात् जो जिस किसी (अन्य) मनुष्य द्वारा ही वस्त्रादि से ढका जाता है एवं जिस किसी (दूसरे के) द्वारा ही जिसको भोजन कराया जाता है और जो जहाँ कहीं भी सोनेवाला होता है उसको देवता लोग ब्राह्मण समझते हैं। **तथा अनिकेतः**—जो निकेत से रहित है अर्थात् जिसका कोई नियत (निश्चित) निवास स्थान नहीं है। अन्य श्रुतियों में भी 'अनागरः' इत्यादि वचनों से वही कहा है न कुड्यां नोदके संगो न चैले न त्रिपुष्करे। नागारे नासने नान्ने यस्य वै मोक्षवित्तु सः। (आनन्दगिरि टीका) अर्थात् जिसे किसी विशेष कुड्य में, गंगादि किसी विशिष्ट जल में, किसी वस्त्र में, किसी तीर्थविशेष में, किसी वासस्थान में, अथवा किसी अन्न में संग (आसक्ति) नहीं है वही मोक्ष का जानने वाला है। तथा **स्थिरमतिः**—जो स्थिरबुद्धि है अर्थात् जिसकी परमार्थ वस्तुविषयक मति (बुद्धि) स्थिर (संशयरहित होकर निश्चल) हो चुकी है **यः भक्तिमान् स मे प्रियः**—ऐसा भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है [यहाँ वारंवार 'भक्ति' शब्द के प्रयोग द्वारा इस बात को दृढ़ कर रहे हैं कि भक्ति ही मोक्ष का पर्याप्त कारण है।]

टिप्पणी—(१) श्रीधर—समः शत्रौ च मित्रे च इत्यादि—जो शत्रु और मित्र में सम (एकरूप) रहते हैं तथा मान और अपमान में भी समभाव

रखते हैं और हर्ष और विषाद (शोक) से रहित हैं, शीतोष्ण एवं सुख दुःख में भी सम हैं तथा सङ्ग से रहित हैं अर्थात् कहीं भी आसक्त नहीं होते, जिसके लिए निन्दा और स्तुति दोनों तुल्य (बराबर) हैं, जो मौन संयतवाक् है अर्थात् जिसने वाणी को जीत लिया है, जो जिस-किसी वस्तु से संतुष्ट है अर्थात् जो कुछ मिल जाय उसी से संतुष्ट होता है तथा **अनिकेतः**—नियत वासस्थान से शून्य है एवं **स्थिरमतिः**—स्थिर बुद्धिवाला (व्यवस्थितचित्त) है। इस प्रकार जो मेरी भक्ति से युक्त होता है, वह मेरा प्रिय है।

(२) **शंकरानंद**—[विकार के हेतुओं के रहते हुए भी अविकार रूप से अवस्थान करने वाले ब्रह्मविद् यति का यह विशिष्टतर लक्षण सबको प्रत्यक्ष है ऐसा कहते हैं—] **समः शत्रौ च मित्रे च**—लोक में जो अपकार करता है वह शत्रु, उपकार जो करता है वह मित्र कहलाता है। लोकदृष्टि के अनुसार ही नहीं। 'मैं ही यह सब हूँ' ऐसा सर्वात्मदर्शी विद्वान् को शत्रु-मित्र आदि भेद प्रत्यय (बुद्धि) हो ही नहीं सकता। अतः प्रारब्धवश देह का यदि कोई अपकारी शत्रु हो या कोई उपकारी मित्र हो तो उन शत्रु तथा मित्र में विद्वान् स्वयं सम (समदर्शी) होता है। तथा **मानापमानयोः**—तथा शत्रु और मित्र के द्वारा यथाक्रम से मान और अपमान में (पूजा और तिरस्कार में) संतोष और विषाद के हेतु रहने पर भी वह सम (निर्विकार) ही रहता है। **शीतोष्णसुखदुःखेषु समः**—इस प्रकार शीत-उष्ण, तथा सुख एवं दुःख के प्राप्त होने पर भी समदर्शी ही है। फिर **तुल्यनिन्दास्तुतिः**—स्तुति एवं निन्दा दोनों में सम (निर्विकार) है [विद्यमान या अविद्यमान दोषों के प्रत्यक्षतः वर्णन को निन्दा कहा जाता है और विद्यमान तथा अविद्यमान गुणों के प्रत्यक्ष रूप से कीर्तन को स्तुति कही जाती है। निन्दा और स्तुति अनात्मदेहादि को विषय करके ही होती है, अतः इन दोनों में जिसको तुल्यभाव (समभाव) है, वह 'तुल्यनिन्दास्तुति' है।] मान-अपमान और शीत-उष्ण आदि में समदर्शन की सिद्धि का हेतु कहते हैं **सङ्ग-विवर्जितः**—साभास (शुद्ध चैतन्य आत्मा के प्रतिबिंबयुक्त) अहंकार ही मान-अपमान तथा शीत-उष्ण का अनुभव करने वाला है। अहंकार में तादात्म्य-अध्यास (अहंकार में आत्मबुद्धि) ही संग है, उससे वर्जित है। विज्ञान-आत्मा को (अहंकार को)

अवलम्बन कर रहनेवाले मान-अपमानादि जिसको विषय नहीं कर सकते उस परब्रह्म में आत्मभाव को प्राप्त होने के कारण विद्वान् यति स्वयं उनसे (अहंकार तथा उसका अवलम्बन करने वाले मान-अपमान इत्यादि से) सर्वप्रकार से रहित होकर समदर्शी होता है, यही कहने का अभिप्राय है। इसीलिए वह **मौनी**—(संयतवाक्) भी होता है क्योंकि 'सब ब्रह्म ही है', इस प्रकार देखने वाले विद्वान् के लिए वक्तव्य दूसरी किसी वस्तु की सत्ता नहीं रहती है अतः वक्तव्य का अभाव होने से ही विद्वान् मौनी होता है। श्रुति भी कहती है—'विजानन्विद्वान् भवते नातिवादी' (ब्रह्म को जानता हुआ विद्वान् अतिवादी नहीं होता है)। इसीलिए वह **संतुष्टो येन केनचित्**—प्रारब्धवश प्राप्त हुई थोड़ी अथवा बहुत भिक्षा से संतुष्ट (सम्यक् प्रकार से तृप्त) रहता है अर्थात् जो कुछ मिल गया उसी को पर्याप्त समझता है क्योंकि समदर्शीयोगी शिष्ट या अशिष्ट तथा सत् या असत् भावना से रहित है। स्मृति में भी कहा है—येनकेनचित् आसितः (जिस किसी से जो भोजन करता है) इत्यादि। **अनिकेतः**—जिस यति का निकेत (निवास) नियत (स्थिर) नहीं है, वह अनिकेत है। इसप्रकार यति गाँव में एक रात ही रहता है और आठ मासतक अकेला विचरता है क्योंकि श्रुति कहती है—'अष्टौ मासानेकाकी यतिश्चरेत्'। **स्थिरमतिः**—आत्मा से विपरीत भावना को उत्पन्न करने वाले मान-अपमान, शीत-उष्ण सुखदुःख आदि के प्राप्त होने पर भी "सब यह और मैं ब्रह्म ही हूँ" इसप्रकार सर्वदा एवं सर्वत्र केवल ब्रह्माकारावृत्ति से स्थिर (निश्चल) है मति (मननशील चित्तवृत्ति) जिसकी, वह स्थिरमति अर्थात् स्थितप्रज्ञ है। [चौदहवें श्लोक में भगवान् के भक्त 'दृढ़ निश्चय' होता है, ऐसा कहा है और वर्तमान श्लोक में भगवान् का भक्त 'स्थिरमति' है ऐसा कहा गया। दृढ़निश्चय (स्थिरनिश्चय) शब्द का तात्पर्य है जो आत्मज्ञान निश्चित हुआ है उस ज्ञान का दूसरे प्रमाण से बाध न होना और स्थिरमति शब्द का तात्पर्य है ब्रह्माकारावृत्ति में चित्त की निश्चलता—यही दोनों शब्दों का भेद है।] **भक्तिमान्**—शास्त्र में कहा है ''एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत्सर्वत्र तदीक्षणम्। अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे। लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।' अर्थात् सर्वत्र वासुदेव का दर्शन करना ही गोविन्द में एकान्त भक्ति है। पुरुषोत्तम में अहैतुकी (अकारण)

और अव्यवहित (अचल) जो भक्ति है वही निर्गुण भक्तियोग का लक्षण है। कहने का अभिप्राय यह है कि अहैतुकी [अर्थात् निमित्तरहित अर्थात् विपरीत प्रत्ययों की निवृत्ति आदि रूप प्रयोजन से शून्य ब्रह्मविदों की स्वभावसिद्ध] तथा (अविच्छिन्न अर्थात् अन्यान्यवृत्तियों से रहित) पुरुषोत्तम में (प्रत्यक् अभिन्न परमात्मा में) जो भक्ति (अखण्डाकारावृत्ति) है, वही निर्गुण भक्ति योग का (भक्ति का) लक्षण (स्वरूप) है, ऐसा महान् पुरुषों ने कहा है। उक्त लक्षणों से युक्त भक्ति जिसकी है वह भक्तिमान् अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ है। इसप्रकार जो **नर** है ['स्वनिष्ठया एवं ब्रह्मैव नारयति प्रापयति न तु योन्यन्तरं लोकान्तरं चेति नरो ब्रह्मविद्यतिः' (आत्मनिष्ठा से अपने स्वरूप ब्रह्म को जो प्राप्त करता है, दूसरी योनि या दूसरे लोक को नहीं, वह नर है अर्थात् ब्रह्मवित् यति है] वह मुझको प्रिय है।

(३) नारायणी टीका—जिस कारण से सर्वत्र ब्रह्मदर्शी पुरुष पूर्व श्लोकों में उक्त गुण को प्राप्त कर लेते हैं, उसी कारण से वे शत्रु तथा मित्र में मान तथा अपमान में शीत तथा उष्ण में एवं सुख दुःख में समदर्शी हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि वे सर्वसंग से विवर्जित हैं क्योंकि मायारचित इस विश्व नाटक में एकमात्र परमात्मारूप अधिष्ठान सत्ता के विना और किसी की पारमार्थिक सत्ता उनकी दृष्टि में नहीं है। इसप्रकार बुद्धि दृढ़ निश्चय होने के कारण चेतन अचेतन सभी विषय में आसक्ति-रहित होते हैं। इस विश्वनाटक में वे यह भी प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कि कर्म तथा कर्मफल की लीला ही चल रही है। अतः वे सोचते हैं कि—

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
अहं करोमीति वृथाभिमानः स्वकर्मसूत्रो ग्रथितो हि लोकः॥

अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ भक्त जानते हैं कि प्रारब्ध कर्मों के अनुसार इस देह की सृष्टि हुई है एवं उसके अनुसार ही दूसरे व्यक्ति इस देह के साथ प्रतिकूल या अनुकूल व्यवहार कर रहे हैं। अतः पूर्व कर्म ही ने इस शरीर का शत्रु या मित्र का रूप लिया है। फिर वे भी कल्पनात्मक होने के कारण आत्मारूप अधिष्ठान में केवल प्रतीत मात्र हो रहे हैं अर्थात् आत्मा ही शत्रु और मित्र के रूप में भास रहे हैं। इस कारण से

ज्ञानी भक्त की न तो मित्र के प्रति रागबुद्धि रहती है और न तो शत्रु के प्रति द्वेष-बुद्धि। इसप्रकार मान-अपमान इत्यादि में भी उनकी समबुद्धि रहती है। एवं निन्दा-स्तुति में भी तुल्यभाव रखते हैं। वे मौन होकर अर्थात् वक्तव्य (कहने के योग्य) कोई विषय न रहने के कारण वे सर्वप्रकार वाक्-व्यवहार से निवृत्त होकर आत्मा में ही स्थिरमति होते हैं, अर्थात् आत्मा में ही उनकी बुद्धि निश्चितरूप से स्थित रहती है। अतः शरीर को प्रारब्ध पर छोड़ देते हैं। एवं शरीर की स्थिति के लिए अनायास अर्थात् प्रारब्ध के कर्मों के बल से जो कुछ प्राप्त हो जाता है उसमें ही वे सन्तुष्ट रहते हैं अर्थात् दैववश जो कुछ प्राप्त हो जाता है उसके अतिरिक्त किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं करते हैं। सर्वव्यापी परमात्म सत्ता में जिनकी स्थिति है उनके लिए सब स्थान ही उनका घर है, अतः उनका नियत कोई वास-स्थान नहीं है अर्थात् यह मेरा घर है—इसप्रकार की बुद्धि नहीं रहती है। इसप्रकार भक्तिमान् पुरुष भगवान् के साथ सदा ही युक्त रहने के कारण भगवान् को प्रिय होते हैं।

['अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' इस श्लोक (१२।१३) से 'भक्तिमान् मे प्रियः नरः' इस श्लोक (१२।१९) तक समस्त तृष्णा से निवृत्त हुए परमार्थ ज्ञाननिष्ठ अक्षर-उपासक संन्यासियों के जो समस्त धर्म (अर्थात् स्वभावसिद्ध असाधारण गुणसमूह) भगवान् ने कहा है उनका ही अब उपसंहार किया जाता है।

[बृहदारण्यक वार्तिक ग्रंथ में कहा है—

'उत्पन्नात्मावबोधस्य ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणाः।
अयत्नतो भवन्त्येव न तु साधनरूपिणः' ॥

जिसको आत्मबोध (आत्मज्ञान) उत्पन्न हुआ है वह बिना प्रयत्न के ही अद्वेष्टृत्वादि गुण समूहों से सम्पन्न होता है, उसके लिए वे साधनरूप नहीं होते हैं। मुमुक्षु के लिए जो साधन है वही मुक्त पुरुष के लिए स्वभाव-सिद्ध धर्म या लक्षण होता है। इसके लिए प्रत्येक मुमुक्षु भक्त का अद्वेष्टृत्वादि गुणसमूहों का अभ्यास करना कर्तव्य है यह प्रतिपादन करते हुए श्रीभगवान् इस प्रसंग का उपसंहार करते हैं—]

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्धाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ २० ॥

अन्वयः—ये तु श्रद्धानाः मत्परमाः भक्ताः इदं धर्म्यामृतं यथोक्तं पर्युपासते ते अतीव मे प्रियाः ।

अनुवाद—मुझमें श्रद्धा रखनेवाले और मुझे ही परमगति समझने वाले जो भक्तगण सर्व प्रकार से इस उपर्युक्त धर्मरूप अमृत का सेवन करते हैं वे मुझे अत्यन्त प्रिय हैं ।

भाष्यदीपिका—**ये तु**–किन्तु जो मुमुक्षु संन्यासी [अद्वेष्टृत्वादि स्वभावसिद्ध धर्मविशिष्ट तथा परमार्थ ज्ञाननिष्ठ व्यक्तियों से साधन करने वाले मुमुक्षुओं की विलक्षणता (पृथकत्व) सूचित करने के लिए 'तु' शब्द है] **श्रद्धानाः**—श्रद्धासम्पन्न होकर **मत्परमाः**—मैं अक्षरातमा भगवान् वासुदेव ही जिनका परम प्राप्तव्य (निरतिशय गति) हूँ इस प्रकार **भक्ताः**—मेरे भक्त अर्थात् यथार्थ ज्ञान से युक्त होकर भक्ति से जो मुझे निरन्तर चिन्तन करते हैं इस प्रकार भक्त **इदं यथोक्तं धर्म्यामृतम्**—'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' इत्यादि श्लोकों द्वारा ऊपर कहे हुए इस धर्ममय अमृत को [जो धर्म से अपगत (पृथक्) नहीं होता है अर्थात् धर्म से ओतप्रोत है वह 'धर्म्य' है । अमृतत्व का (मोक्ष का) साधन होने से (अथवा अमृत के समान स्वाद विशिष्ट होने के कारण) वह अमृत भी है । जो धर्म्य भी है तथा अमृत भी है अर्थात् जो धर्म से ओतप्रोत है तथा अमृतत्व (मोक्ष) का साधन भी है उसे 'धर्म्यामृत' कहा जाता है । इस धर्म्यामृत को] **पर्युपासते**—प्रयत्न पूर्वक अनुष्ठान करते हैं **ते अतीव मे प्रियाः**—वे मुझे अत्यन्त प्रिय हैं । 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम्' (गीता ७।१७) इस श्लोक में जो विषय सूत्ररूप से कहा गया था यहाँ उसकी व्याख्या करके 'भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः' इस वचन से उसका उपसंहार किया गया है । कहने का तात्पर्य यह है कि जो श्रद्धायुक्त होकर तथा मुझ परमात्मा को ही जीवन का एकमात्र प्राप्तव्य वस्तुरूप से निर्णय कर इस यथोक्त धर्मयुक्तरूप उपदेश का अनुष्ठान करते हैं वे मुझ साक्षातपरमेश्वर विष्णुभगवान् के

अत्यन्त प्रिय होते हैं। अतः जो मुमुक्षु पुरुष विष्णु के प्रिय परमधाम को प्राप्त करने के लिए इच्छा करते हैं उनको इस धर्मयुक्त अमृत का (मोक्ष प्राप्ति के साधन का) यत्नपूर्वक अनुष्ठान करना चाहिए, [क्योंकि इस धर्मामृत का श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करने से भक्त परमेश्वर भगवान् विष्णु का अत्यन्त प्रिय हो जाता है, इसलिए ज्ञानी का यह स्वभावसिद्ध लक्षण होनेपर भी भगवान् विष्णु के परमपद को (आत्मतत्त्व को) जो मुमुक्षु पुरुष जानने की इच्छा करते हैं उनको आत्मज्ञानप्राप्ति के साधन (उपाय) रूप से इस धर्म्यामृत का प्रयत्नपूर्वक अनुष्ठान करना चाहिए, यही भगवान् के उपदेश का तात्पर्य है। इस प्रकार सोपाधिक ब्रह्म का ध्यान परिपक्व होनेपर निरुपाधिक ब्रह्म का अनुसंधान करनेवाले, अद्वेष्टृत्व आदि धर्मों से युक्त एवं श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन का अभ्यास करनेवाले मुख्य अधिकारी को वेदान्त वाक्य के अर्थ से प्रतिपादित तत्त्व का साक्षात्कार होना सम्भव है एवं उससे उसको मुक्ति भी हो सकती है। अतः मुक्ति के हेतुभूत वेदान्त के महावाक्य के अर्थ में जिसका अन्वय होना सम्भव है (अर्थात् वेदान्तवाक्य जिसके प्रतिपादन में पर्यवसित अर्थात् समाप्त होते हैं) उस तत्पद के अर्थ का अनुसंधान करना चाहिए। यह बातचीच के छह अध्यायों में अर्थात् गीता के ६ अध्याय से लेकर १२ अध्याय तक सिद्ध किया गया है-(मधुसूदन)]

टिप्पणी—(१) श्रीधर—पूर्वोक्त धर्म समुदाय का फलसहित उपसंहार करते हैं-] **ये तु धर्म्यामृतम् इदम्**—जिसका वर्णन ऊपर सात श्लोकों द्वारा किया जा चुका है एवं जो अमृत का (मोक्ष का) साधन होने के कारण धर्मामृत (धर्मरूप अमृत) है **श्रद्दधाना मत्परमाः भक्ताः पर्युपासते**—उस पर श्रद्धा रखते हुए और मेरे परायण होकर जो भक्त उसकी उपासना (अनुष्ठान) करते हैं **ते अतीव मे प्रियाः**—वे मेरे भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं [इस श्लोक में कुछ लोग 'धर्म्यामृतम्' पाठ मानते हैं किन्तु श्रीधर स्वामी ने इस श्लोक में धर्मामृतम् इस पाठ को ग्रहण किया है।

दुःखमव्यक्तवर्त्मैतद्बहुविघ्नमतो बुधः।
सुखं कृष्णपदाम्भोजभक्तिसत्पथमाभजेत्॥

अर्थात् शास्त्रों में अव्यक्त अक्षर ब्रह्म की उपासना का जो मार्ग निर्दिष्ट किया गया है वह दुःखरूप (कष्टकर) और बहुविघ्नों से युक्त है, किन्तु श्रीकृष्ण के चरण कमलों के जिस भक्तिरूपी मार्ग का निर्देश किया गया है वह सुखरूप (सहज) तथा सन्मार्ग है अर्थात् सत्पुरुष (संतलोग) उस मार्ग का ही अनुसरण करते हैं। अतः बुद्धिमान् पुरुष को उस भक्ति मार्ग का ही सर्वप्रकार से भजन करना (निरंतर अनुसंधान करना) उचित है।

(२) **शंकरानन्द**—'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्'–(गीता १२।१३) से लेकर (गीता १२।१९) श्लोक तक जो ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मवित् यति के लक्षण कहे गए हैं वे सब वेदान्त वाक्य के श्रवण और मनन से उत्पन्न ज्ञान के परिपाक के मुख्य उपाय है, अतः उन साधनों का एकमात्र मोक्ष की ही कामना वाले तथा सर्वप्रकार से विरक्त साधक यतिओं को सम्पादन करना चाहिए, यह समझाने के लिए उनके सम्पादन में निष्ठा रखने वाले साधकों की स्तुति करते हुए श्रीभगवान् अध्याय का उपसंहार करते हैं– **ये तु श्रद्दधाना मत्परमाः**—'तु' शब्द सिद्ध पुरुष से अधिक भिन्न है, यह सूचित करने के लिए है। जो यति मेरे भाव को (मेरे स्वरूप को) प्राप्त करने के लिए इच्छा करते हैं एवं जो सभी भक्ति मार्ग के सिद्ध साधनों को त्याग करके वेदान्त वाक्यादि के श्रवण आदि से सम्पन्न होकर ज्ञानी (परोक्षज्ञानी) हुए हैं तथा श्रद्धावान् होकर अर्थात् 'मुक्ति के इस परम साधन का अवश्य अनुष्ठान करना चाहिए' इसप्रकार विश्वास से युक्त होकर मत्परम होते हैं अर्थात् मैं निर्विशेष परमब्रह्म ही जिनका परम प्राप्तव्य स्थान हूँ (मैं ही एकमात्र परमार्थ वस्तु हूँ) इसप्रकार बुद्धियुक्त हुए हैं अथवा मैं ही परम (निरतिशय ऐश्वर्य सम्पन्न विश्व से अधिक) ईश्वर हूँ जिसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया जाता है, ऐसी जिनकी बुद्धि है अर्थात् मुझमें परमेश्वरत्व बुद्धि रखकर मेरी आज्ञा के वशीभूत होकर **यथोक्तम् धर्म्यामृतम्**—'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' इत्यादि से मेरे द्वारा प्रतिपादित धर्म्यामृत की [यतिओं का स्वधर्मरूप से प्रयत्नपूर्वक जो अनुष्ठान के योग्य है वह धर्म्य है अथवा जो मुमुक्षुत्वरूपधर्म से प्राप्त होने योग्य है वह धर्म्य है। अमृत के (मोक्ष के) नियत साधन होने के कारण अद्वेष्टृत्व आदि साधन अमृतस्वरूप हैं। जो धर्म्य भी है और अमृत भी–उसको धर्म्यामृत कहा जाता है। उसकी

अर्थात् अद्वेष्टृत्व आदि साधनों की] उपासना करते हैं (नित्य अनुष्ठान करते हैं) **ते भक्ताः अतीव मे प्रियाः**—वे मेरे भक्त (मेरी भावना में निष्ठा वाले भक्त) मेरे (परमेश्वर के) अतीव (अत्यन्त) ही प्रिय (परम प्रेम के आश्रय) हैं। सबके कहने के अनुसार चलने वाले पुरुष सबको अत्यन्त प्रिय होते हैं, यह लोक में देखा जाता है। ऐसे ही मैंने जैसा कहा है उनका जो यति अनुष्ठान करते हैं वे मुझको अत्यन्त प्रिय होते हैं, इसप्रकार अपने द्वारा कहे गए मोक्ष साधन में उनकी (मुमुक्षु की) प्रवृत्ति की सिद्धि के लिए यह स्तुति है। इसलिए परमेश्वर में अति प्रियत्व की सिद्धि के लिए अर्थात् परमेश्वर का अत्यन्त प्रिय होने के लिए तथा भवबन्धन से मुक्त होने के लिए जो यति (संन्यासी) वेदान्त वाक्यादि का श्रवण किए हैं एवं केवल मोक्ष की ही कामना करते हैं उनको भगवान् ने जैसे पूर्व श्लोकों में कहा है उसीप्रकार उस धर्म्यामृत का प्रयत्नपूर्वक अनुष्ठान करना चाहिए—यह सिद्ध हुआ।

(३) नारायणी टीका—[ब्रह्मनिष्ठ भक्तों के स्वाभाविक लक्षणों का वर्णन करके अब मुमुक्षु साधकों के वे सब गुण जो परमपद प्राप्ति (मोक्ष की प्राप्ति) के लिए आवश्यक है, इसको कह रहे हैं—]

वे सब मुमुक्षु संन्यासी जो 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' इत्यादि श्लोकों के द्वारा प्रतिपादित धर्म्य-अमृत (धर्मरूप अमृत) का प्रयोग प्रयत्नपूर्वक करते हैं [सभी जगत् को जो धारण किये हुए हैं उन अधिष्ठान स्वरूप सच्चिदानन्द ब्रह्म को ही यथार्थ धर्म कहा जाता है। अद्वेष्टृत्व आदि गुणसमूह ब्रह्म से अनपेत (अस्खलित) हैं।] अतः साक्षात् ब्रह्मप्राप्ति के हेतु होने से उन्हें धर्म्य कहा जाता है। फिर वे अमृत के (मोक्ष के) हेतु और अमृत के समान स्वादिष्ट (आनन्द-कर) होने के कारण उन्हें 'अमृत' भी कहा जाता है। श्रद्धायुक्त होकर प्रयत्न के साथ सर्वतोभाव से जो इसप्रकार धर्म्यामृत का अनुष्ठान करते हैं [अर्थात् मैं अक्षरातमा भगवान् वासुदेव ही परम प्राप्तव्य हूँ (निरतिशय गति हूँ) इसप्रकार निश्चय कर] शमदमादि साधनसम्पत्ति से सम्पन्न होकर मेरा निरुपाधिक ब्रह्मस्वरूप का भजन करते वे ज्ञानी भक्तगण मुझे अतीव प्रिय हैं। गीता में पहले भी भगवान् ने ऐसा ही कहा है 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः (गीता ७।१७) इत्यादि। अद्वेष्टृत्वादि

धर्म्यामृतरूप जिन सब गुणों का वर्णन भगवान् ने किया है वे मुमुक्षु साधक के लिए प्रयत्नसाध्य होने पर भी ज्ञानी को वे स्वभावसिद्ध हैं अर्थात् ज्ञानलाभ होनेपर वे सब गुण अपने से ही आ जाते हैं। वार्तिककार सुरेश्वराचार्य कहते हैं—

उत्पन्नात्मावबोधस्य ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणाः।
अयत्नतः भवन्त्येव न तु साधनरूपिणः॥

जिनको आत्मज्ञान लाभ हुआ है उनको अद्वेष्टृत्वादि गुण बिना यत्न के ही उदित होते है। ज्ञानलाभ न होने पर इन सब गुणों का स्थायित्व नहीं रहता है। तथापि जो सब मुमुक्षु साधक इन गुणों का अर्जन करने के लिए बहुत प्रयत्न करते हैं वे भी भगवान् के अति प्रिय होते हैं—यही भगवान् के कहने का अभिप्राय है।

उपसंहार—इस मध्य षट्क में अर्थात् सप्तम अध्याय से द्वादश अध्याय तक 'तत्त्वमसि' इस वेदान्त महावाक्य के अन्तर्गत तत् पदार्थ को (माया-उपाधि रहित शुद्धचैतन्यस्वरूप परमब्रह्म को) किस प्रकार मनन (विचार) तथा निदिध्यासन द्वारा अन्वेषणकर उस परमब्रह्म की स्वरूपता को मुमुक्षु प्राप्त हो सके, यह प्रतिपादित किया गया है। परमार्थ वस्तु माया तथा माया के कार्य (विश्वप्रपञ्च) से विलक्षण (पृथक्) है। इसलिए माया के अन्तर्गत लौकिक या वैदिक कर्मों से परमात्मा रूप नित्यसत्य वस्तु प्राप्त नहीं हो सकती। कर्मही भोग का बीज उत्पन्न कर संसारबन्धन का कारण होता है किन्तु वही कर्म जब कर्मयोग में परिणत होता है अर्थात् सभी कर्म जब भगवान् की तृप्ति के लिए भगवदर्पण बुद्धि से सर्वप्रकार की कामना से (फलाकांक्षा से) रहित होकर किये जाते हैं तब चित्त शुद्ध होने पर अर्थात् चित्त वासनाजनित चंचलता से रहित होने पर ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान लाभ के उपायरूप से जो मनन या विचार की आवश्यकता होती है उस विचार की योग्यता प्राप्त होती है। इसलिए शास्त्र में कहा है—"चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तूपलब्धये। वस्तुसिद्धिः विचारेण न किञ्चित् कर्मकोटिभिः।" अर्थात् चित्तशुद्धि के लिए ही शास्त्रविहित कर्मों का विधान किया गया है। कर्म द्वारा परमार्थ वस्तु की उपलब्धि नहीं हो सकती क्योंकि विचार के द्वारा ही यह सम्भव है। कोटि-कोटि कर्म से भी सबसे सार (सर्वश्रेष्ठ) पदार्थ जो

आत्मा है उसकी साक्षात् उपलब्धि नहीं होगी किन्तु कर्म से चित्तशुद्धि द्वारा विचार उत्पन्न होने पर अनात्म वस्तु से अर्थात् देह इन्द्रिय तथा जागतिक दृश्य वस्तु से आत्मा को पृथक् करने पर तत्त्वज्ञान का उदय होता है। मैं कौन हूँ ? जगत् कौन है ? परमानन्द प्राप्ति के लिए जो मेरी शाश्वत पिपासा है वह किस उपाय से शान्त हो सकती है ? यही ब्रह्मविचार का आधार है। इसप्रकार विचारवान् होने पर साधक "मेरे अन्दर सर्व अवस्था में अनुगत (सर्वदा विद्यमान) जानने वाला कौन है", यह विचार कर देह, इन्द्रियादि से अतिरिक्त एकमात्र शुद्ध चैतन्य स्वरूप साक्षी (द्रष्टा) पुरुष ही यथार्थ आत्मा है यह निश्चय कर लेता है एवं तत्पश्चात् निदिध्यासन के द्वारा (निर्विकल्पक समाधि से) उस स्वरूप का साक्षात् अनुभव कर ब्राह्मीस्थिति प्राप्त कर लेते हैं। यही जीवन का परमपुरुषार्थरूप मोक्ष की सिद्धि का उपाय है। अतः जिन मुमुक्षुओं को चित्त-शुद्धि प्राप्त हो गई है, उनके लिए श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन का नित्य अभ्यास ही आत्म साक्षात्कार का साधन है। परन्तु जिनकी चित्तशुद्धि नहीं हुई है उन मुमुक्षुओं को चित्तशुद्धि की प्राप्ति के लिए विश्वरूप की उपासना की आवश्यकता है। इसलिए गीता में तत्पदार्थ का (ईश्वर तत्त्व) के शोधन द्वारा (अर्थात् सर्वउपाधि से शून्य परमात्मा का स्वरूप निर्णय कर) उनका साक्षात्कार करने के लिए मुख्यरूप से पाँच साधनों का विधान किया गया है—

(१) निर्गुण ब्रह्मकी उपासना—[जिसकी चित्तशुद्धि नहीं हुई है एवं देह इन्द्रियादि में आत्माभिमान है उसके लिए इसप्रकार की उपासना क्लेशकर होने के कारण अनुकूल नहीं है।]

(२) सगुण ब्रह्मकी उपासना—[विश्वरूप की उपासना]—सर्वरूप में एकमात्र सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सत्यसंकल्प, भक्तकल्याणकर ईश्वर (मायायुक्त ब्रह्म) विद्यमान है विश्वजगत् में जो कुछ हो रहा है यह उनकी ही लीला है एवं उन्होंने ही अपनी कल्पना से जो सृष्टि स्थिति प्रलय का नाटक रचा है, उसको अन्यथा करने की शक्ति किसी में नहीं है, इस प्रकार की भावना से जो उपासना की जाती है उसको विश्वरूप उपासना कही जाती है।

(३) **अभ्यासयोग**—विश्वरूप में मन और बुद्धि को स्थित रखने की जिसमें सामर्थ्य नहीं है, वे अभ्यासयोग के अधिकारी हो सकते हैं। अभ्यासयोग तीन प्रकार के हैं—

(क) **अहंग्रहोपासना**—इस उपासना में देह, इन्द्रियादि से सम्पूर्णतया पृथक् जो शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा है वही मैं हूँ, देह इन्द्रियादि मेरी तृप्ति के लिए ही सर्वकर्म का अनुष्ठान कर रहें हैं–इस प्रकार की भावना द्वारा 'अहं' की (आत्मा की) जो उपासना होती है, वह अहंग्रहोपासना है।

(ख) **प्रतीकोपासना**—[भगवान की राम, कृष्ण, शंकर, पार्वती इत्यादि कोई भी मूर्ति सर्वस्वरूप, सर्वान्तर्यामी एवं सर्वशक्तिमान् भगवान् का ही प्रतीक है। इस प्रकार भावना द्वारा जो उपासना होती है उसे प्रतीकोपासना कहते हैं। इस उपासना में उपासक तथा उपास्य में भेदबुद्धि रहती है।

(ग) **बहुधा उपासना**—मेरी उपास्यमूर्ति ही अपनी माया से रचित वेश परिवर्तन कर सर्वमूर्ति धारण करती है, इस प्रकार की भावना से सर्वत्र अपने इष्टको ही बैठाकर जो उपासना होती है उसको बहुधा [विश्वतो मुखम्–विश्वतो मुख वाले] भगवानकी उपासना कही जाती है।

(४) अभ्यासयोग में भी जो असमर्थ हैं उसके लिये कर्मयोग के अनुष्ठान का विधान किया गया है। कर्मयोग दो प्रकार के हैं।

(क) मत्कर्मपरमरूप कर्मयोग—[लौकिक तथा शास्त्रविहित अथवा 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।,] इस प्रकार जो नवधाभजनात्मक कर्म शास्त्र में वर्णित है उन सबकर्मों को भगवान् की प्रीति के लिए श्रद्धापूर्वक करना तथा इस प्रकार कर्म करना ही मेरे जीवन का परम लक्ष्य है ऐसी भावना में निष्ठा (स्थिति) को 'मत्कर्म परमरूप कर्मयोग' कहा जाता है।

(ख) दासभाव से सर्वकर्मफलत्याग कर्मयोग [मैं भगवान् का दास हूँ, भृत्य जिस प्रकार प्रभु के लिए सर्वकर्म करता है परन्तु उसके फल के लिए कोई आशा नहीं रखता है इस प्रकार सर्व कर्म करते हुए भी उन सब कर्मों के फल की वासना त्यागकर

भगवान् में यदि अर्पित हो तो उसको सर्वकर्म फलत्यागरूप कर्मयोग कहा जाता है। जगत् में जितने प्रकार के साधक हैं उनके अधिकार भेद से उक्त पञ्च उपासना के अंगों में से किसी एक साधन का अवलंबन करना ही पड़ेगा। इनमें पूर्व-पूर्व साधन उत्तरोत्तर साधन से श्रेष्ठ है। साधक जितना ही उच्चकोटि के साधन का अधिकारी हो जाता है उतना ही उसमें सात्विकगुण का अधिक से अधिक प्रकाश होता है। अन्त में सर्वोच्च साधन अर्थात् निर्गुण उपासना में पहूँचने पर 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' इत्यादि श्रेष्ठ सात्विक गुणों का स्वतः ही आविर्भाव होता रहेगा।

उक्त साधन के पञ्च अंगों में ज्ञानी निर्गुण उपासना का अधिकारी है। विश्वरूप उपासना तथा अभ्यासयोग भक्त के लिए हैं तथा अवशिष्ट मत्कर्म परमयोग और सर्वकर्म फलत्यागरूप योग कर्मयोगी के लिए हैं। अतः अधिकारी के भेद से उन तीनों प्रकार के योग की (कर्म, भक्ति और ज्ञानयोग की) आवश्यकता होती है अर्थात् कर्मयोग निम्नाधिकारी के लिए अनुकूल होने पर भी भक्तियोग में पहुँचा देता है तथा भक्तियोग ज्ञानयोग में क्रमशः पहुँचा देता है, यही साधना का क्रम है। ज्ञानयोगी को ही परमानन्द में स्थितिलाभ करने की सामर्थ्य है। इसलिए भगवान् वशिष्ठ देव ने कहा है—'ज्ञानयोगः परापूजा ज्ञानात्कैवल्यमश्नुते। तुर्यैव परमा पूजा साक्षात्कार-स्वरूपिणी।' भगवान् वशिष्ठ ने यह भी कहा है 'अन्यथा शास्त्रगर्तेषु लुंठतां भवतामिह'। अर्थात् ज्ञानयोग के बिना कोटिकल्प तक शास्त्रगर्त में (गड्ढे में) लोटने से भी अज्ञान की निबृत्ति नहीं होगी। यह दुर्लभ ज्ञान भक्तियोग के बिना प्राप्त नहीं हो सकता है एवं भक्ति भी कर्मयोग के बिना उदित नहीं होती है। इस प्रकार ज्ञान, भक्ति तथा कर्म का नित्य सम्बन्ध है। इसलिए शास्त्र में कहा है कि—

ज्ञानं भक्तिश्च वैराग्यमेतदेव न संशयः।
ज्ञात्वैवं सहजं प्रेम विवेकेनैव नान्यतः॥

जबतक द्वैतभाव है तबतक भय है। अभेद ज्ञान अर्थात् भगवान के साथ एकत्वानुभव ही भयशून्यावस्था अथवा अभयपद है। उसे ही मोक्ष कहा जाता है। आत्मा को अनात्मवस्तु से विवेक (पृथक्) कर निर्विकल्प समाधि से आत्मस्थिति

प्राप्त ह ने पर ही एकत्व का अनुभव होता है, यह पहले ही कहा जा चुका है। अतः समस्त उपासना का अंतिम लक्ष्य है उस अद्वैत भाव में प्रतिष्ठित होना। शान्तिगीता में कहा है—'लेशमात्रं नहि द्वैतं द्वैतं न सहते श्रुतिः' विष्णुपुराण में भी अद्वैत भाव की प्राप्ति ही चरम सिद्धि है, ऐसा कहा गया है—

अयं हरिः सर्वमिदं जनार्दनो
नान्यत् ततः कार्यं कारणं जातम्।
इदृङ्मनो यस्य न तस्य भूयो
भवोद्भवा द्वन्द्वरोगा भवन्ति ॥ (वि. पु. १।२२-८५)

अर्थात् मैं ही हरि हूँ, समस्त जगत् हरिमय है। हरि से अतिरिक्त और कुछ नहीं है, इस प्रकार की धारणा जिसके मन में है वह संसार से उत्पन्न हुए द्वन्द्वरोग (राग-द्वेष, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति इत्यादि) से आक्रान्त नहीं होता है। अतः लौकिक कर्मों से भगवदर्पणबुद्धि से कर्मयोग का अनुष्ठान श्रेष्ठ है, उसकी अपेक्षा सगुण ब्रह्म की उपासना श्रेष्ठतर है तथा सर्वापेक्षा निर्गुण उपासना श्रेष्ठतम है क्योंकि उससे ही ब्राह्मीस्थिति लाभ कर मोक्षपद प्राप्त होता है। यही सातवें अध्याय से बारहवें अध्यायतक 'तत्' पद के शोधन के प्रसंग में श्रीभगवान् ने प्रतिपादन किया है।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-
संवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥

[इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये
भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥]

---

lonely

— The Ra

OTES AND DIARY

"*Raghu's* son", thus spake the sages, "helper of each holy rite,
Portion of the royal *Indra* fount of justice and of might,
On thy throne or in the forest, king of nations, lord or men,
Grant us to thy kind protection in this hermit's